

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

वेदभारती

[स्नातककक्षोपयोगिसंकलनम्]



डा० सधीरकुमारगुप्त , एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदक

जयपुर राजस्थानविश्वविद्यालय
संस्कृतविभागे प्रोफेसर (रीडर)

भारती



मन्दिरम्

अनुमन्धानशाला

आर— २, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुरम-४

प्रकाशक.

श्री प्रमोदकुमारगुप्त

२२ मुद्रण प्रकाशनाध्यक्ष

भारतीमन्दिरम् अनुसन्धानशाला,

आर-२, विश्वविद्यालयपुरी

जयपुरम् - ४ ।

सर्वेऽधिकारा सम्पादकेन स्थाय्यीकृता।

मूल्यम्—४-०० (साधारणो बन्ध)

४-८० (पक्वो बन्ध)

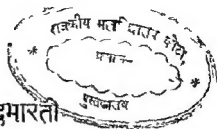
© प्रथम संस्करणम्, १९६८ ई०

मुद्रको

वैशाली प्रेस — पृष्ठानि १ अ-५२ अ ।

अजन्ता प्रिण्टर्स,

जयपुरम् - ३ - शेष सर्वम्



वेदभारती

विषय-सूची

[कोष्ठकों में सर्वत्र सदर्थपर्याय दी गई है ।]

विषय	पृष्ठ
१ उपोद्घात	७ आ—११ आ
१ वेदमन्त्रा—वदपरिचय (१—२) मन्त्र, उषी और अथर्ववेद (३) यजुर्वेद और यज्ञ (४) ऋग्वेद (५) । ३ आ—४	
(१) गायत्रीमन्त्र—भूमिका (७—८) मन्त्र (९) अथ (१०), टिप्पणियाँ (११) ।	४—७
(२) भद्रकामना—भूमिका (१२—१३) मन्त्र (१४) अथ (१५) टिप्पणियाँ (१६) ।	७—९
(३) दीर्घायुष्काम—भूमिका (१७—१८) मन्त्र (१९) अथ (२०) टिप्पणियाँ (२१) ।	९—११
२ चरैवेति—भूमिका (१—१४) ब्राह्मण (१) ब्राह्मणों का काल (२) ब्राह्मणों की संख्या और नाम (३) ब्राह्मणों के विषय (४) ब्राह्मणों के आश्रय (५) ऐतरेय ब्राह्मण (६), शुन वेप आश्रय (७) शुन- वेप आश्रय की कथा (८—१८), चरैवेति (११—१४) शुन वेप की कथा का उपसंहार (१५—१८)	१२—१८
चरैवेति—(मूल, अथ और टिप्पणियाँ) [१—२१] ।	१८—२१

- ३ सतपथब्राह्मण मत्स्यानतारेतिहास — सतपथब्राह्मण
(१) सतपथब्राह्मण के विषय (२), आख्यान (३),
मछली के अवतार की कथा (४—६) ३०—
- सानुवादो मत्स्यानतारेतिहास (१—६) ३२—
- ४ [सतपथब्राह्मण] मनो प्रजाति — मत्स्यावतारेति
हासस्योत्तराद ४०—
- ५ शुन शेषात्पाने वरुणस्य तितिक्षा — कथा का प्रयोजन
और भाषा (१—२) ४८—
- [मूल अनुवाद और टिप्पणियाँ] शुन शेष के आख्यान
में वरुण की महानगीलता ४६—
- ६ दैतिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ली — उपनिषद (१—२)
परिचय (३) मार (४—५) महन्व (६) मूल अर्थ
और टिप्पणियाँ (७) ५७—१
- (१) तप (अनुवाक ६) ५६—१
- (११) आचार्यानुशासनम् (अनुवाक ११) ६४—७३
- ७ ईशोपनिषद् — उपनिषद (१—२) ईशोपनिषद् —
परिचय (३) विस्तार (४) विषय (५) सार (६)
दशम (७) काल (८) शान्तिपाठ का भाव (९) ७४—८८
- मूल अर्थ और टिप्पणियाँ — ईशोपनिषद् का शान्ति
पाठ (१०) ईशोपनिषद् (११) उपसंहार (१२) ७७—६९
- परिशिष्टम् — भाष्यप्रकाशिका मुचीरिणी सस्कृतटीका —
[दाई ओर पृष्ठसंख्या दी गई है] १ अ—४३

विषय-सूची]

[५ आ

१ वेदमन्त्रा	१ अ—३ अ
१ गायत्रीमन्त्र	१ अ
२ ऋक्मन्त्रा	२ अ
३ यजुर्मन्त्रा	२ अ—३ अ
२ चरवेति	४ अ— ६ अ
३ मत्स्यावतारेतिहास	१० अ—१३ अ
४ मनो प्रजाति	१४ अ—१८ अ
५ ऋणस्य तिष्ठति	१९ अ—२० अ
६ तत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावन्तो—	
अ-नप	२३ अ—२४ अ
अ-आचार्यानुशासनम्	२५ अ—२८ अ
७ ईशोपनिषद्	२९ अ—४३ अ
विक्षेपि	४४ अ
गदानुक्रमणिका	४५ अ—५२ अ

कृपया इस रचना पर

अपनी सम्मति

अवश्य

भेजें

ॐ या मेधा देवगणाः पितरश्चोपासते
तया मामग्रे मेधयाग्ने मेधाग्निं कुरु ॥ ॐ

वेदभारती

उपोदघात

१ वेद भारत को विशेष रूप से अमूल्य निधि है। भारतीय जीवन के दृष्टमर्यादक जनो के जीवन पर मन्त्रों और उन के चारों ओर निर्मित साहित्य की अमिट छाप है। मन्त्रों के भावों को समझाने रोचक बनाने और जीवन का अनुष्ण अंग बनाने के लिए ही प्राचीन ऋषियों और आचार्यों ने ब्राह्मण ग्रंथों सूत्रों और उपनिषदों की रचना की। ब्राह्मणों में यज्ञ और यज्ञों के वर्णन को रोचक बनाने के लिए कतिपय आख्यानों की भी मृष्टि की गई है। उपनिषदों की शैली तो बड़ी रोचक है, उन में आख्यात अंग अंग ही कम है।

२ अतः प्राचीन ज्ञान से वेद का अध्ययन और अध्यापन भारत के कोने-काने में स्थान पाता रहा है। आज एम ए में तो वेद के एक या अधिक पत्र हाने ही हैं, स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी इस को स्थान मिला है। तथापि साधारण स्नातकीय कक्षाओं के लिए उपयुक्त ऐसे सक्लन का सर्वथा अभाव था जो हिन्दी के माध्यम में उच्च स्तरीय अध्ययन में सहायक सामग्री में युक्त वैदिक साहित्य के विविध रूपों का आस्वादन करा सके और विद्यार्थियों में वेदाध्ययन के लिए कुछ रुचि उत्पन्न कर सके। इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त इस सक्लन की रचना की गई है।

३ इस सक्लन की अनुभूति दिली विश्वविद्यालय के बी ए पान में १९६६ के प्रथम पत्र में पाठ्यक्रम से ली गई है। यहाँ

पर उस पाठ्यक्रम के साथ-साथ कुछ अन्य पाठ भी दिए गए हैं जो उस पाठ्यक्रम में निर्धारित अंशों के पूर्व भाग या उत्तरार्द्ध के रूप में हैं। इन का विवरण नीचे दिया जा रहा है। सूत्रग्रन्थों से भी कुछ अंश इस में संकलित करने अभीष्ट थे। इस के लिए पारस्करीयोपनिषत्सूत्र सब से अधिक उपयुक्त मालूम पड़े। उन का लेखक का अलग से स्मरण उपलब्ध है। अतः उ हे यहा नहीं रक्खा गया है।

४ इस संकलन में तीन ही वेदमन्त्र—गायत्री मन्त्र विश्वानि देव और तन्वश्चर रक्खे गए हैं। इन में शुभ बुद्धि और कर्मों तथा भद्र की कामना के साथ उत्साह-पूर्वक सौ वर्ष का जीवन बिताने की कामना व्यक्त की गई है। इन तीनों मन्त्रों में लौकिक जीवन में सफलता की कुंजी और परलोक का परिष्कार निहित है। इन की भाषा परम सरल है।

५ ब्राह्मणों में दो आरण्यों के अंश लिए गए हैं—ऐतरेय ब्राह्मण से शुन शेष के आरण्य के ३३ वे अध्याय के दूसरे और तीसरे खण्ड लिए गए हैं। इन दोनों को अलग-अलग पाठों में रक्खा गया है। दिल्ली के पाठ्यक्रम की दृष्टि में पहले तीसरे खण्ड को और उसके बाद दूसरे खण्ड को रक्खा गया है। इन के बीच में मनु और मत्स्य के जलप्लावन की विश्वप्रसिद्ध कथा को दो भागों में बांट कर प्रस्तुत किया गया है।

६ तैत्तिरीयोपनिषद् से तप और आचार्य के अनुशासन से सम्बद्ध प्रकरण लिए गए हैं। काण्व यजुर्वेद संहिता का ईशोपनिषद् के रूप में प्रख्यात अन्तिम अध्याय अविकल रक्खा गया है। यह उपनिषद् मन्त्रों शाखाओं और उपनिषदों का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि इस के अनेकों संस्करण उपलब्ध हैं, तथापि अंग्रेजी अंशों के साथ उपयुक्त विशेषता के कारण इसे यहा संकलित किया गया है।

७ समस्त सङ्कलन को पाठों में बांट कर उन को उपयुक्त शीर्षक दे दिए गए हैं। ये शीर्षक सरल, संक्षिप्त और पाठ के विषय के परिचायक हैं। प्रत्येक पाठ के पहले उपयुक्त संक्षिप्त भूमिका दी गई है। मूल पाठ को मोटे अक्षरों में, शान्दिक हिंदी अनुवाद को उस से कम मोटे छापे में और टिप्पणियों तथा भाव को बारीक छापे में कराया गया है। भूमिका का छापा शेष भागों में भिन्न है। भिन्न भिन्न बातों में लिखे जाने के कारण संक्षिप्त हिंदी अनुवाद और टीका में दो-चार स्थलों पर कुछ विचारभेद का प्रतीत होगा। बड़ आपातक है मौनिक नहीं। सस्कृतटीका लिखते समय हिन्दी भाग प्रेस में था। अतः उन में समन्वय सम्भव न हो सका। ईशोपनिषद् के मंत्र ३ में हिन्दी अनुवाद वाले पाठ को ही मूल और प्रामाणिक मानना उचित मालूम पड़ता है क्या निःसंशुर्बेद में भी यही पाठ है टीका वाला नहीं।

८ यद्यपि यहाँ संकलित सब अधो पर साधन और शकराचार्य आदि के भाष्य मिलते हैं, तथापि बी ७ के सामान्य विद्यार्थी के लिए वे अनेक बार कठिन हैं, अनेक बार अपर्याप्त और अस्पष्ट हैं। अतः एक परिशिष्ट में समस्त ग्रन्थ के पाठों की सरल पदावली में लगभग प्रत्येक पद की व्याख्या करने वाली, भाव को स्पष्ट करने वाली, सरलता से बोधगम्य नूतन भावप्रकाशिका सुधीरिणी सस्कृतटीका भी दी गई है। इस टीका में मूल पदों को बहुश बारीक अक्षरों में रख कर टीका के व्याख्यान से अलग दिखाया गया है। कुछ पाठों में यह सम्भव नहीं हो सका है। इस टीका में सामान्यतः व्याकरण और दर्शन के जटिल और अनावश्यक विवेचनों का परिहार किया गया है सामान्यतः इस में संप्रियों का भी परिहार किया गया है। फिर भी कुछ हो ही गई हैं। परन्तु वे सुगम ही हैं।

६ ग्रन्थ में टिप्पणियों में व्याख्यात पदों की अनुक्रमणिका भी दी गई है। विद्यार्थियों को अनुक्रमणिकाओं का प्रयोग समय में आजाने पर ये उन के बड़े उपयोग की रहती है।

१० संक्षेप में पुस्तक को पर्याप्त प्रामाणिक, उपयोगी और पाठ्यक्रम में निर्धारण के स्तर का बनाने का प्रयास किया गया है। यदि यह सकल विद्यार्थियों को वेदाध्ययन में सहायक और रुचि उत्पन्न करने वाला हो सके और विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को अपने पाठ्यक्रम में रखने के लिए उपयुक्त मालूम पड़े तो लिखक का परिश्रम सफल होगा और परमेश की परा अनुकम्पा होगी।

११ इस ग्रन्थ की रचना मनु की कथा और तैत्तिरीयोपनिषद् के अंशों के अनुवाद टिप्पणियाँ और भूमिकाएँ लेखक ने अपने पुराने ग्रन्थ 'गद्यपारिजातविवरण' से परिवर्धन और संशोधन के साथ अपनाए गए हैं। उस कृति में मूल पाठ नहीं छपा था इन अंशों और शेष भाग की रचना में अनेकों ग्रन्थों से सहायता ली गई है। इन के लेखकों और प्रकाशकों का परम धन्यवाद है।

१२ १५-१-६८ को श्री २२ दिवाकर के भाषण में सभापतिपद में भाषण देते हुए डा. महाजनी उपकुलपति उदयपुर विश्वविद्यालय ने आचार्यनिशासन का उल्लेख करते हुए एक बहुत सुन्दर विचार दिया कि इस उपदेश का मूल लक्ष्य भावनागरिकता में समाजसेवा के क्रियात्मक आदर्श को संक्रान्त करना है। आचार्य का अपने आदर्श और उदाहरण में उपदेश देना डा. महाजनी के विचार को पुष्ट करता है। आप के मत में इस उपदेश में कुशलान्न प्रमदितव्यम् के 'कुशल' का भाव समाजमेवा है आत्मानन्ति कर समाज और राष्ट्र की सेवा करना ही सभ्यता का प्रमुख तत्त्व रहा है। यज्ञ और दान-दोनों में यही भावना है।

१३ ग्रन्थ के ग्रन्थों के शोधन में दृष्टिदोष में अनेको भूल रह जाओ स्वाभाविक हैं। मानव स्वभाववशा और भी ग्रन्थ अक्षुब्ध रही हो सकती है। विज्ञ पाठकों के उत्तरोत्तर परिष्कार के लिए मुझों के लिए आभारी रहूँगा।

१४ मुद्रण में प्रयास करने पर भी प्रेस गु के टाईप को नहीं जुटा सका। अतः एक स्थल पर ४ के द्वारा इ गित कर शेष सर्वत्र ० से इसे ध्यक्त किया गया है।

१५ वैदिक व्याकरण लौकिक और बी ए में पूरा पत्री गई व्याकरण में कई धाराओं में भिन्न है। वैदिक मन्त्रों को मम भन के लिए उस का कुछ परिचय आवश्यक है। इस ग्रन्थ में यह परिचय पदा पर टिप्पणी देते हुए ही दिया गया है, निम्न में साधारण मे-साधारण पाठक भी उसे समझ सकें और उसे बोझ न समझें। इस में भी व्याकरण की जटिल प्रक्रिया गति का परि-हार किया गया है। जो पाठक कुछ विस्तृत पन्तु सक्षिप्त रूप में वैदिक व्याकरण का परिचय करना चाहें वे लेखक के वेदनावध्यम् ॥ ऋक्पूक्तानि मे एतद्विषयक परिशिष्ट की सहायता ले सकते हैं।

१६ भारती मन्दिर के अधिपतियों ने इस के मुद्रण और प्रकाशन की उचित व्यवस्था की है और अपनी अभिरुचि दिखाई है। उन को मेरी शुभ आशिषें हैं। परमपिता परमात्मा की महती अनुकम्पा से जीवन के गूढ़ोपचरण की एक यह देन भी पूर्ण हुई, अतः उन का कोटिश धन्यवाद है।

पाठक की टिप्पणियां



वेदपरिचय

१ भारतीय ग्रन्थों की मूल धर्मपुस्तकें वेद कहलाती हैं। वेद का अर्थ 'ज्ञान' है। यह पद विद् धातु से बनता है। सस्मृत म विद् धातु के अर्थ 'जानना विचार करना प्राप्त करना और विद्यमान होना' है। वेद इन सब अर्थों को व्यक्त करता है। अतः हिन्दुओं का विचार है कि वेद में सब सत्य विद्याओं का मूल पाया जाता है। इन्हें मण्डि के आदि में परमेश्वर ने मानवों के कल्याण और मार्गनिर्देशन के लिए चार आदि ऋषियों द्वारा प्रकट किया। ये ऋषि अग्नि, वायु आदित्य और अग्निरा ये जिन के माध्यम से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद व्यक्त हुए। इस प्रकार मूल वेद चार हैं। इन की कुछ शाखाएँ भी हैं। वेदों को महिम्ना भी कहते हैं। वेदों की शाखाएँ शाखासहिता नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद की शाखस महिम्ना, यजुर्वेद की माध्यमदिन वाजमनेयी सहिम्ना, सामवेद की कौषुम सहिम्ना और अथर्ववेद की शौनक सहिम्ना मूल वेद मानी जाती है। शाखासहिताओं में यजुर्वेद की तैत्तिरीय बठ-नपिष्ठन, वाठक और मेधावली, सामवेद की जैमिनीय और अथर्ववेद की पेषलाद सहिम्नाएँ प्रसिद्ध हैं। इन शाखा-सहिताओं में मूल वेदों के मन्त्र ही कुछ पाठभेद क्रमभेद और व्याख्या आदि के साथ संवित्त किए गए हैं। वेदों के विषयों का व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में मिलता है। वेदों के धर्म के यज्ञ, संस्कार और व्यवहार आदि क्रियाकलापों का वर्णन एक विचित्र सक्षिप्त

शैली में सूत्रग्रन्थों में मिलता है। वेदों की रक्षा के लिए हिन्दुओं ने अनेकों उपाय किए जिन के कारण वे आज तक सुरक्षित चले आ रहे हैं और उनमें किसी प्रकार का भी कोई विकार नहीं आया है। इन की सुरक्षा के लिए ही इन्हें गुप्तरम्भरा से मुख से सुन कर याद किया जाता था। अतः इन्हें श्रुति कहते हैं।

२ आधुनिक विद्वान् हिन्दुओं के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं हैं। वे वेदों को ऋषियों की रचना मानते हैं, जो ईसा से १५०० वर्ष पूर्व निर्मित हो चुके थे। कुछ भारतीय विद्वान् वेदों की रचनातिथि को बहुत प्राचीन मानते हैं। इतने लम्बे काल में मौखिक याद किये जाने के कारण इनमें कुछ विकार आ जाने स्वाभाविक है। यही नहीं एक ही बदसहिता में भी भाषा और विषय के भेद से भिन्न-भिन्न कालों के रचना, स्तर भी दिखाए गए हैं।

मन्त्र, त्रयी और अथर्ववेद

३ वेदों के बाष्पय मन्त्र कहलाते हैं। ये पद्यात्मक भी हो सकते हैं और गद्यात्मक भी। स्तुतिप्रधान मन्त्रों को ऋक् या ऋचा और कर्म के विधायक मन्त्रों को यजु कहते हैं। जो मन्त्र गाए जाते हैं उन्हें राम कहते हैं। ऋग्वेद में समस्त मन्त्र पद्यात्मक हैं और ऋचा कहलाते हैं। यजुर्वेद में गद्य और पद्य दोनों हैं। इसमें मन्त्र यजु कहलाते हैं। सामवेद के सब मन्त्र गाए जाते हैं। अथर्ववेद में भी गद्य-पद्यात्मक दोनों प्रकार के मिलते हैं। अथर्ववेद के मन्त्रों में ऋचाओं की सरया पर्याप्त है। वदमन्त्रों के इन तीन प्रकारों के कारण इन्हें त्रयी भी कहा है। आजकल अथर्ववेद को पीछे की रचना माना जाता है और इसे जादू टोने और आयुर्वेद का अर्थ कहा जाता है। इसमें उच्च शक्ति का दर्शन भी सुष्कल परिसर में मिलता है।

सामवेद के मन्त्र लगभग सभी ऋग्वेद से लिये गये हैं। नेवच ७१ मन्त्र नए हैं। इन का उपयोग सोमयाग में होता है। इन्हें 'सामन्' कहते हैं।

यजुर्वेद और यज्ञ

४ यजुर्वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन और विधान है। यह अग्निहोत्र से आरम्भ होता है जिस में अग्नि जला कर भी आदि पदार्थ डाले जाते हैं। अन्य यज्ञ इसी का विकसित और परिवर्धित रूप हैं। इन में अश्वमेध और पुरुषमेध के नाम विशेष हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इन में पशुओं और मनुष्यों की आहुति या बलि दी जाती थी परन्तु यह इस में सहमत नहीं है। यज्ञ के समय सांसारिक सुखों की प्राप्ति, दुःखा और पापों से निवृत्ति आदि की प्राप्ति भी का जाती थी। इस वेद में ऐसी प्रार्थनाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। इस वेद के भाग अध्याय कहलाते हैं। प्रत्येक अध्याय में मन्त्र संकलित हैं। कुल अध्याय चालीस हैं। अध्यायों में अधिन से अधिक ११७ और वम से वम १३ मन्त्र मिलते हैं। अन्तिम अध्याय कुछ अन्तर से भेद में शीपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है और एक दूधर की सत्ता का वर्णन करता है। शीप अध्यायों की प्रार्थनाएँ अनेकों देवताओं की सम्बोधित की गई हैं। इन देवताओं के नामों की कुछ विद्वान् इश्वर के ही निम्न नाम मानते हैं। ये सब मन्त्र यज्ञों में सम्मन्वित हैं।

ऋग्वेद

५ इन सब वेदों का आधार ऋग्वेद है क्योंकि उन में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद में लिये गए हैं। ऋग्वेद ही समस्त क माहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ भी है। इस के दस भाग हैं जो मण्डल कहलाते हैं। प्रत्येक मण्डल में कुछ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त

म कुछ मन्त्र सन्निहित है। इन मूक्तो में कम से कम एक और अधिक से अधिक १८ मन्त्र पाए जाते हैं। प्रत्येक मन्त्र का एक ऋषि एक वा अधिक देवता और एक छन्द होता है। ऋषि मन्त्र का प्रकाशक या रचयिता होता है। मन्त्र में जिस नाम से देवता की स्तुति की जाती है या विषय का प्रतिपादन होता है वह नाम मन्त्र का देवता होता है और जिस छन्द में मन्त्र लिखा होता है। वह मन्त्र का छन्द कहलाता है। इस वेद में अग्नि इन्द्र, वरुण रुद्र, मरुत्, सविता उषा, सूर्य और सोम आदि देवी देवताओं की स्तुति और उन से प्रार्थना के मन्त्र सन्निहित किये गये हैं। इन मन्त्रों में भौतिक सुखों की कामना की गई है और सर्वत्र आशावाद ही भरा पड़ा है। निराशा का वहां लेश भी नहीं है। यज्ञ का इम में भी प्राधान्य है। यज्ञ के मुख्य लक्ष्य परापहार और आत्मकल्याण है। वहां दान मत्स्य और अहिंसा की भावना प्रचुर है परन्तु शत्रु के नाश में कोई सकाच नहीं है। राक्षसों की कल्पना भी की गई है। जो अनक बार मनुष्य के मार्ग में आने वाली बाधाएँ, दुःख और राग आदि ही हैं। देवता राक्षसों को मारने वाले बताए गए हैं। देवों के साथ स्तोता मैत्री की भावना रखता है। उन में पारस्परिक आदान प्रदान होता है।

६ इस सक्लन में तीन मन्त्रों का संग्रह है उन में से पहला गायत्री मन्त्र है दूसरे में कल्याण की और तीसरे में दीर्घायु की कामना है।

गायत्रीमन्त्र

भूमिरा

७ वेद का प्रमुख लक्ष्य मानव के ऐहलौकिक और पारलौकिक जीवन में सुख की सृष्टि और उस के लिये भावना

उत्पन्न करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति उत्साहपूर्वक और आशा पर निर्भर जीवन में हो सकती है। जब तक मनुष्य की वृद्धि निर्मल है, वह अच्छे कर्म करेगा और उत्साह में जीवन बितायेगा। इसी लिए वैदिक भाषा में बुद्धि और कर्म दोनों का वाचक एक ही पद भी मिलता है—'धी'। गायत्री मन्त्र में परमात्मा से इसी 'धी'—बुद्धि और कर्म की वृद्धि की प्रार्थना की गई है।

यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में मिलता है। ऋषि गायत्री विद्वामित्र देवता सविता और उद् गायत्री है। देवता के नाम पर इसे सवित्री, छन्द के नाम पर गायत्री और जीवन का मूलमन्त्र होने से अव्यापन के प्रारम्भ में गुरु द्वारा सब से पहले पढ़ाए जाने में गुरुमन्त्र कहते हैं। भारतीयों में इस मन्त्र में बड़ा कर और किसी मन्त्र का महत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में अपेक्षा की जाती है कि प्रातः और सायं इस का जप करे और अपने आप को इस के अनुरूप ढाले। इस के जप से शरीर में शक्ति-वीर्य की वृद्धि और बुद्धि का विकास होता माना गया है। अतः विद्यार्थियों को स्वप्नदोष आदि होने पर मनु ने मनुस्मृति में इस का जप करने का विधान किया है।

१ मन्त्र—

[गायत्री विद्वामित्र । सविता । गायत्री]

तत् सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

[ऋग्वेद १।६२।१० सामवेद १४६२ यजुर्वेद २।२५]

[२२।६ ३०।२ ३६।६]

१० अर्थ—[हम] (मवि) [जगदुत्पादक] सवितृ [नामक परमात्मा]
 (दमस्य) देव के (तत्) उस (वरेण्यम्) श्रेष्ठ [या चुनने योग्य
 कमनीय] (भग) तेज का (घोमहि) चिन्तन [-ध्यान]
 करते हैं (य) जो [तेज या परमात्मा] (१) हमारी
 (निय) बुद्धियों और कर्मों को (प्रभाववान्) उत्तम प्रेरणा दे
 [-अच्छे मार्ग पर चलाए] ।

११ टिप्पणियाँ—सामान्यतः इस मन्त्र में पूरे तीन दाद और
 जाड़े जाने हैं—भूर् भुव और स्व । इहं व्याहृति रहत ह । इन के
 अर्थ (१) सत्त्व त्तत्त्व और आनन्द (२) प्राण का भी प्राण सब
 दुःखा से छुटाने वाला और स्वयं सुखस्वरूप तथा दूसरा को सब सुख
 प्राप्त कराने वाला (३) प्राणाधार, दुःख निवारक और जगद्व्यापक
 दिगमय ह । ओ३म् सब मन्त्रों के पहले बोला जाता है । यह
 परमात्मा का सब गेष्ठ मूल नाम माना गया है । परमात्मा अव्यय है
 और तीनों लिंगों और वाला आदि में एक रूप रहता है । ओ३म् भी
 अव्यय और सदा एक रूप रहने वाला है । इन चार पदों के
 साथ मिल कर गायत्री मन्त्र विशेष प्रभावशाली हो जाता है । यहाँ
 इन तीनों पदों को नहीं पढ़ा गया है । भूर् भुव और स्व भी
 अर्थ हैं । तत्—यह तत्त्व से तत्त्व सब लिये द्वितीया एक वचन का रूप ह
 और वरेण्यम् का विशेषण है । नासदीय मूलक में 'तत् एक' परमात्मा
 का नाम है । उनी परमात्मा के नाम तत्त्व का भी यह ध्यान हो
 सकता है । दमानन्द सरस्वती ऐसा ही मानते हैं । सवितृ — सवितृ से
 पठों एक वचन पुनश्च का रूप है । सामान्यतः सवितृ स्य का पर्याय
 ह । मूय जड़ पदार्थ और पराश्रित है, उस में बुद्धि और कर्मों के गायत्री
 का सामर्थ्य नहीं । इसी लिए दमानन्द सरस्वती ने सवितृ का ✓ सू से
 निष्पन्न करते हुए परमात्मा का वाचक माना है । तत्त्व का उत्पादक
 होने से गुरु भी सवितृ हैं । परम्यम्—✓ वृत् + ण्य । द्वितीया एक
 वचन तत्त्व लिये । भर्गो—✓ भज + भस्वन् । तत्त्व या परमात्मा परमात्मा ।

देवस्य—देव म पठ्ठी एन वचन पुल्लिङ्ग । देव शब्द √ दिव् से बना है । इस धातु के दस अर्थ हैं—झींझा जीतने की इच्छा व्यवहार छुनि (प्रकाश), स्तुति, भोद, मद स्वन, कानि और गति । अतः देव पद कम बन बना, स्तुतियोग्य, प्रशङ्गात्मान सुवस्वरूप आदि भावा का वाचक है । अमायत इस का अर्थ 'देवता-सर्वविशेष लिया जाना है । धीमहि—√ धि से विद्य तिट् उत्तम पुरुष बहुवचन का वदिक रूप है । वद म बहुधा मताना और क्रियाया के रूप लौकिक रूपा से भिन्न भी मिलन है । √ ध्य-ध्यान करता । दयानन्द सरस्वती इस √ धि धारण करना का रूप मानने प्रसन्न होत हैं । धिय—धी म द्वितीया बहुवचन स्त्रीलिङ्ग रूप है । वेद म यह कम और बुद्धि दोना का नाम है । य—यत् से पुल्लिङ्ग प्रथमा एन वचन का रूप है । यत् और तत् मदा साथ रहत है । अतः यह तत् का घोषक प्रतीत होना है और नपुंसक लिङ्ग म होना चाहिय था । वद म बहुधा क्रिया और विभक्तियों के प्रयोग म लौकिक व्याकरण के नियमा स कुछ भिन्नता भी मिलनी है । दयानन्द सरस्वती ने तत् और अत का अर्थ परमात्मा का स्वरूप ल कर य का परमात्मा का वाचक माना है । यत् का अनुवाद का योजना भक्ति सीधी मानूम पड़ती है । प्रचोदयत्—प्र+√ चुद+विधि लिट् प्रथम पुरुष एन वचन । √ चुद प्रेरित करना लगाना । अतः अच्छी प्रकार—अच्छ भाग म प्रेरित कर—सगाए—बनाए ।

२ भद्ररामना—

भूतिना—

१२ दूसरा मन्त्र भी ऋग्वेद का है । यह यजुर्वेद म भी मिलना है । इस के ऋषि श्यावाश्व आश्विन देवता सविता और छन्द गायत्री है । अतः यह भी सावित्री और गायत्री मन्त्र है परन्तु इन नामा से प्रख्यात नहीं है । ये नाम केवल शुक्लमन्त्र के लिए ही विशेष रूप से प्रचलित हैं ।

१३ इस मन्त्र में सवितृ—परमात्मा से सब पापा-दुष्ट कर्मों को दूर कर के कल्याण प्रदान करने की कामना की गई है । दयानन्द सरस्वती को यह मन्त्र इतना रूचिकर लगा है कि उस ने अपने भाष्या और ग्रन्थों के अध्यायो आदि के प्रारम्भ में मंगला चरण के रूप में इसे बहुश लिखा है ।

१४ मन्त्र—[श्यावाश्व आश्रये । सविता । गायत्री]

विश्वानि देव सवितरु

दुरितानि परा सुव ।

यद् भद्र तन्न आ सुव ॥

[ऋग्वेद ५।८२।५ य० ३०।३।]

१५ अर्थ— हे (देव) दिव्य गुणों वाले (सवितरु) [जगदुत्पादक] सवितृ नामक परमात्मा [हमारे] (विश्वानि) समस्त (दुरितानि) पापों [और] कष्टों का (परा सुव) भली भान्ति सुदूर भेज दो—[अर्थात् नष्ट कर दो] । (यत्) जो कुछ भी (भद्रम्) कल्याणकारी (हो), (तत्) उस को (न) हमारा समीप (आ सुव) ले आओ—अर्थात् प्रदान करो ।

१६ टिप्पणियाँ—देव—देव शब्द से सम्बोधन एक वचन पुल्लिङ्ग रूप है । सवितरु—सवितृ—सवितृ में सम्बोधन प्रथमा एक वचन का रूप है । दातृ आदि के समान रूप चलने । पहले मन्त्र में इस का पठो का रूप आया है । और उस के समान ही यह पठो भी परमात्मा और सूर्य का वाचक है । सूर्य भी जड़ चेतन का अविष्टाना=सासक देव है । मध्यकालीन भाष्यकारों और आधुनिक बहूत में अनुवादकों ने इसे सूर्य का ही द्योतक माना है । दुरितानि—दुर + √ इ + क्त, नपुंसकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन का रूप है । √ इ जाना, प्राप्त करना

समभना आदि । अतः पाप, कष्ट दुःख आदि । आधुनिक विद्वान्
इसे कष्ट वाचक ही मानते हैं । परा सुत्र, आ सुव—परा और आ
पवक् ✓ सू (भदादि और दिवादि) से लाट् सकार मध्यम पुष्प एक
वचन । वेद में प्रधान वाक्य में उपसर्ग क्रिया में अलग और स्वतन्त्र
रहता है । न —अस्मद से द्वितीया चतुर्थी और षष्ठी बहुवचन का
अवादेश-वक्लिप्त रूप है । यहा चतुर्थी या षष्ठी का रूप अभिप्रेत है ।

३. दीर्घायुष्काम

भूमिना

१७ तीसरा मन्त्र भी ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों
में आया है । यजुर्वेद की परम्परा मृग्, र्, ह आदि से तुरन्त
पहले आने वाले पदान्तर म् को ङ या ञ्, चिह्नों से अंकित करते
हैं और उसे 'गुम्' बोलते हैं ।

१८ इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि दध्यङ् आथर्वण, देवता
सूर्य और छन्द भरिगु ब्राह्मी त्रिष्टुप है । इस में सूर्य में प्रार्थना
की गई है कि हम १०० वर्ष से भी अधिक काल तक स्वस्थ और
अविकल्नेन्द्रिय रहे । सवित्र के समान सूर्य भी परमात्मा और
सूर्य का वाचक है ।

१९ मन्त्र—[दध्यङ् आथर्वण । सूय । भरिगु ब्राह्मी त्रिष्टुप ।]

तच्चक्षुर्देवहित पुरस्तान्छुकमुचरत् ।

पण्येम शरदः शत जीवेम शरदः शतम्

भृणुयाम शरदः शत प्र व्रजाम शरदः शतम्

अदीना, स्याम शरदः शत भूयश्च शरदः शतात् ॥

२० अर्थ—(पुरस्तात्) सामने पूर्व दिशा में (ततः) यह [मुनिरयात्] (देवहितम्) देवताओं के लिए कल्याणकार (शुभम्) देदीप्यमान (चक्षु) नेत्र (उच्चरत्) ऊपर निम्न आय है। [हम] (शतम्) सौ (शरद्) शरद् ऋतुओं [अर्थान्—यों] तक (पश्यम्) देखते रहें। (शतम्) सौ (गरद्) सर्दियों—वर्ष तक (जीवम्) जीते रहें। (शतम्) सौ शरद् ऋतुओं [—यों] तः (शृणुयाम) सुनने रहें। (शतम्) सौ (शरद्) सर्दियों तः (प्र व्रजाम) प्रवचन-उपदेश आदि करते रहें। (शतम्) सौ (शरद्) सर्दियों तक, (च) ओर (यतात्) सौ (शरद्) सर्दियों से भी (भूय) अधिक [वर्षों तक] (अदीना) अपरतः [—स्वतन्त्र=स्वाधीन] (स्याम) रहें।

२१ टिप्पणिया—चक्षु—चक्षुष से नपु सकृद्विग प्रथमा एव वचन का रूप है। देवहितम्—देवेभ्य हितम्। देवताओं के लिए हितकारी कल्याण करने वाला। एक ग्रन्थ मात्र में सूय की प्रति प्रति और वस्त्र की आज्ञा कहा है। दान और विश्वास का एक मात्र कारण होने से आज्ञा सब की हितसाधक है। हित—✓ धा + क्त स्थापित किया हुआ, रक्ता हुआ। अतः संक्षणा में कल्याणकार ग्रन्थ हुआ। पुरस्तात्—पुर्स् + तात्। एवं दिशा। यह पद सर्व ग्रन्थों में रहता है। शुक्रम्—सफेद शुभ स्वच्छ। यह ✓ शुचः + निष्पन्न हुआ है। दयानन्द सरस्वती ने इस का अर्थ आगुकर दिया है। अतः सीधेकारी अथवा तीव्र-दूरदशक भाव भी लिया जा सकता है। उच्चरत्—उच् + चर् + लङ् प्रथम पुरुष एक वचन का रूप होने रूप। ऊपर निम्न आया है। यहाँ यह भूतकाल तत्काल प्रभी १ धोतन है। पश्येम, जीवेम शृणुयाम व्रजाम स्याम—ये क्रमज ✓ ह्य ✓ जाव, ✓ धु, ✓ व्रू और ✓ अस से विधिलिङ् उत्तम पुरुष बहुवचन के रूप हैं। शरद् शतम्—मानव की आयु सौ वर्ष की मान

गई है—‘यनापुर्वे मानव । अतः यहा भी सौ वष जीने आदि की कायना की गई है । दग्ना जीना गुनना बहना और होना—सत्र एक वन-क पूरक है और जीना’ क्रिया के भाव को सुस्पष्ट करता है । विद्वानों ने लिखप लिखना है कि प्राचीन काल में जिन ऋतु से वष प्रारम्भ होता था उसी ऋतु का नाम वष का पर्याय बन जाता था । यहा पर ऋतु का प्रयोग उसी ऋतु के अत्यन्त दुष्प्रा है । इसी प्रकार धान के नाम पर मना का प्रयोग होता है । कुछ विद्वान् इन प्रयोगों ने ज्योतिष की गणना द्वारा ऋग्वेद की रचना के काल का अनुमान भी लगाते हैं । अग्नीना—दीन और पगलन को स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता है । अतः स्वप्न रहन की प्राथना की गई है । भूयश्च—जीवन जितना सम्भवा हागा, मनुज उतना ही अधिक लोभ के सुखों का उपभोग करता हुआ प्राणभी जीवन के लिए पुण्य का संचय कर लेगा । इस प्राथना से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय सौ वष से भी अधिक आयु वाला जन होने थे । शतम्, शतान्—अतः शब्द सदैव नपुंसकलिङ्ग एक वचन में प्रयुक्त होता है ।

.२. चरैवेति

भूमिका

ब्राह्मण

१, वैदिक साहित्य में वेदों और उन की शाखा संहिताओं के बाद ब्राह्मण साहित्य का स्थान है। एक परम्परा इन्हें भक्ति और ईश्वरीय ज्ञान मानती है, परन्तु दूसरी परम्परा इन वेदव्याख्यान मात्र मानती है और वेद के अनुकूल भाव आदि होने पर ही इन्हें प्रामाणिक मानती है। यह कहना अनुचित नहीं विमूल की तुलना में जितनी प्रामाणिकता एक उद्धरणों सहित कूर्ज प्रश्नोत्तर और सरल अध्ययनों की होती है उतनी ही वेद संहिताओं की तुलना में ब्राह्मणों की है। ब्राह्मण शब्द की ब्रह्मन् से अण प्रत्यय लगा कर 'ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानम्' अर्थ व्याख्या की गई है।

ब्राह्मणों का काल

२ ब्राह्मणों की रचना का काल वेदसंहिताओं के संकलन के बाद माना जाता है। मैक्स मूलर ने इन्हें ६०० से ८०० ई० पू० में रक्खा। ज्योतिष के आधार पर शतपथ ब्राह्मण का काल ३००० ई० पू० के लगभग बैठता है। यह भी निर्विवाद है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ आदि संहिताकाल में प्रचलित थे। उसी परम्परा को यहाँ लेखबद्ध प्रामाणिक और ससक्त रूप दिया गया है। यह विकास दीर्घकालीन रहा होगा। सम्भव है कि उपलब्ध ब्राह्मणों से पहले छोटे-बड़े कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थ रहे हों जिन के आधार पर ये उपलब्ध ब्राह्मण रचे गये। कुछ भी हो,

इन की रचना चाहे जब और चाहे जिस आधार पर की गई हो, इन की मूल सामग्री का सीधा सहितानाल से सम्बन्ध है ।

ब्राह्मणों की मर्या और नाम

३ प्रत्येक वेद के अपने अपने एक वा अधिक ब्राह्मण है । ऋग्वेद के ऐतरेय कौपीतकि और शाखायन ब्राह्मण यजुर्वेद के शम्पय और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य महान्नाब्रह्मण (=पञ्चविंश ब्राह्मण), मन्त्र, आर्षेय, सामविज्ञान, सहितोपनिषद् दैवन, पङ्क्ति, वग्न जैमिनोय और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण तथा ऋग्वेद का गोपथ ब्राह्मण मिलने हैं । इन में तैत्तिरीय और जैमिनीय इन नामों की शाखाओं के ब्राह्मण हैं । जैमिनीयोपनिषद् जैमिनीय ब्राह्मण का ही अंग है । इसी प्रकार मन्त्र ब्राह्मण आदि भी केमी समय पञ्चविंश ब्राह्मण के अंग रहे हो सकते हैं ।

ब्राह्मणों के निषय

४ ब्राह्मणों में अपनी अपनी सहिताओं और शाखाओं में सम्बन्धित क्रियाकलाप का सङ्कलन उन की प्रामाणिकता का व्यवचन और उन के मूल भाव या प्रतीक आदि का कथन मिलते हैं । इन में वर्णित क्रियाएँ बड़ी जटिल हैं और विशेषज्ञ के बिना समझाई नहीं की जा सकती । कुछ का तो सभार भी सामान्य अनुपपन्न होना में असमर्थ रहगा । कुछ निरान्त अव्यवहार्य और प्रतीकमात्र हो मालूम पड़ने ह । शेष में भी कुछ क्रियाएँ प्रयोज्य प्रतीत होती हैं । प्रतीक की दृष्टि से ये सब गिष्ट और गह्य हो जाते हैं ।

ब्राह्मणों के आरयान

५ ब्राह्मणों में न्यून-स्थल पर बहुत से सरन, सक्षिप्त और रोचक आरयान भी मिलते हैं । इन से ही आगे चल कर

कहानी-कथा आदि का विकास हुआ है। इन आर्यानों की भाषा सरल सुबोध और ललित है। सामान्यतः ब्राह्मणों की भाषा अपरिपक्व, अविकसित, भद्दी, अस्पष्ट और अपूर्ण है, परन्तु आर्यानों की भाषा में ये दोष नहीं हैं। यहाँ वाक्य भी छोटे छोटे हैं। उन की भाषा पीछे की लौकिक संस्कृत में विकासोन्मुख है।

ऐतरेय ब्राह्मण

६ ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण महीदास ऐतरेय की रचना है। बाल की दृष्टि से यह वैदिक संस्कृति के ह्रास के युग का प्रतीक होता है और कम-से-कम शतपथ ब्राह्मण से अर्धाचीन मालूम होता है। तथापि आधुनिक विद्वान् इसे शतपथ ब्राह्मण से पहले की रचना मानते हैं।

शुनःशेष आख्यान

७ इस ऐतरेय ब्राह्मण में राजसूययज्ञ के प्रसंग में पुत्र की आवश्यकता और परिश्रम के फल का प्रतिपादक एक बहुत सुन्दर आख्यान मिलता है। इसे शुनःशेष आख्यान कहते हैं। स्मरण रहे जिस प्रकार स्वप्न में मानव के अनुभव में आई हुई वस्तुओं और घटनाओं से एक सम्बद्ध सा रूप दिखाई पड़ता है हमी प्रकार कवि अपने चारों ओर के वातावरण से सामग्री लेकर कल्पना मिश्रित कथा की किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सृष्टि करता है। ये कथाएँ वैदिक साहित्य में आख्यान या इतिहास कहलाती हैं। अतः आख्यानगत वस्तुओं को यथार्थ मानना व्यामोह और अज्ञान है।

शुनःशेष आख्यान की कथा

८ शुनःशेष के इस आख्यान की संक्षेप से कथा इस प्रकार है —

६ इक्ष्वाकु कुल म वेचस के पुत्र हरिश्चन्द्र नामक एक राजा हुए हैं। उम की सौ रानिया थी, परन्तु उस के न नार्त पुत्र या न और कोई सन्तान। एक बार उम का नारद ऋषि से पुत्र-प्राप्ति की अनिवार्यता के विषय म वार्तालाप हुआ। नारद ने बताया कि अपने जीवनकाल म पुत्र का सुख देखने मे पिता पितृ ऋण मे मुक्त हो जाता है। पृथिवी अग्नि और जल मे मिटने वाले भोगों से बड़ कर पुत्र का सुख है। वह पिता की आत्मा और मसार तथा दुःख से पार उतारने वाला होता है। पुत्रहीन के लिये चाहे आश्रमों का जीवन निरर्थक है। पुत्र दोनों लाकों म ज्योति है। पुत्रहीन का लोक नष्ट हो जाता है। सप उसे पशु समझते हैं। पुत्रवाले ही शोकरहित हो कर छाती तान कर निशक और सानन्द इस जगत् म घूमते हैं। यह सुन कर हरिश्चन्द्र न नारद से पूछा कि उसे पुत्र कैसे मिले।

१० नारद ने कहा कि वरुण देवता से प्रार्थना करो और कहो कि जो पुत्र तुम्हें पैदा होगा उस को तुम राजा वरुण की भेट चढ़ा दोगे। हरिश्चन्द्र ने उस के परामर्श के अनुसार किया। वरुण ने उस की प्रार्थना पर उसे एक पुत्र दिया और उस की बलि मागी। परन्तु हरिश्चन्द्र यदि ऐसा कर दते, तो उन को क्या लाभ होता। अतः उन्हो ने वरुण को टनाया कि अभी तो यह दस दिन का भी नहीं हुआ। दस दिन का हो जान पर मैं इस को तुम्हारी भेट चढ़ा दूंगा। वरुण मान गया और रोहित नामक इस बालक के दस दिन का हो जाने पर फिर बलि की माग की। हरिश्चन्द्र ने फिर टलाया कि दान्त निकलने पर यज्ञ करूंगा। वरुण मान कर फिर अपने स्वीकृत समय पर आया। अब हरिश्चन्द्र ने फिर युक्ति निकाल कर कहा कि अभी इस के दूध के दान्त गिर कर पक्के दान्त निकल आने दो। वरुण उम की बात

मान कर दी हुई अवधि पर फिर आया । हरिश्चन्द्र ने उसे रोहित के शस्त्रधारी होने तक के लिए फिर टला दिया । जब राहिन शस्त्रधारी हो गया, तब वरुण ने फिर माग की । अब हरिश्चन्द्र आगे न टला सके और रोहित की भेट देने के लिए राजी हो गए । उन्होंने रोहित को बुला कर सब बात बता कर कहा कि उसे वरुण की भेट चढ़ाया जायगा । राहित सहमत न हुआ और जंगल में भाग गया ।

चरैवेति

११ यहाँ से इस सकलन में सगृहीत अश-चरैवेति की कथा चालू होती है ।

१२ रोहित के भाग जाने पर वरुण ने हरिश्चन्द्र को पकड़ लिया । हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया और उस का पेट फूल गया । शिता के रोग की वार्ता सुन कर रोहित घर आने के लिए जंगल से बस्ती में आया । वहाँ पुरुष के वेप में इंद्र ने मिल कर कहा कि परिश्रमशील को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है इस लिए परिश्रम करो और धूमो—गतिशील बनो । घर में बैठना बेकार है । रोहित एक वर्ष फिर भ्रमण करता रहा और पुनः घर की ओर चला । इंद्र ने फिर उपदेश दिया कि विचरणशील का सब प्रकार के फल मिलते हैं और उस क दुःख दूर हो जाते हैं और रोहित को फिर एक वर्ष के लिए जंगल में भ्रमणशील बना दिया । इसी प्रकार तीसरे चौथे और पाँचवें वर्षों में इंद्र ने रोहित को अपने घर जाने से रोका और कहा कि विचरणशील का ही ऐश्वर्य वृद्धिगोन रहता है । धूमने वाला ही मत्स्ययुग और जूए की कृत फेक व समान पूर्ण हो पाता है और स्वादु फल को प्राप्त करता है ।

१३ छठे वर्ष में उस की भेट भूस से सतप्त सौयवसि अजीगर्त अयि से हुई । इस के तीन पुत्र थे—शुन पुच्छ, शुन शेष और शुनोलाङ्गूल । रोहित ने अपने बदले बलि देने के लिए उन में से एक पुत्र को मागा । पिता और माता ने क्रमशः ज्येष्ठ और कनिष्ठ को देने से इकार कर दिया और सौ (सुवर्ण मुद्राओं या गौओं) के बदले मध्यम पुत्र शुन शेष को बेच दिया ।

१४ रोहित इस शुन शेष को ले कर पिता के पास आया । दोनों ने वरुण से रोहित के बदले में शुन शेष की भेट स्वीकार करने की प्रार्थना की । वरुण सहर्ष राजी हो गए, क्यों कि क्षत्रिय बालक से ब्राह्मण बालक अधिक गुणवान् या श्रेष्ठ होता है । वरुण के निर्देश पर शुन शेष को राजसूय में बलि देने के लिए बाधा गया ।

शुन.शेष की कथा का उपमहार

१५ प्रस्तुत सकलन की कथा यहा समाप्त हो जाती है । आगे की कथा इस प्रकार है ।

१६ जब शुन शेष को बलि के लिए लाया गया तो उसे बलि के पूर में बाधने और उस के बाद मारने के लिए कोई आदमी नहीं मिला । यहा भी शुन शेष का पिता सौ-सौ [सुवर्ण मुद्राओं या गौओं] के बदले इन दोनों कामों को करने के लिए तय्यार हो गया ।

१७ शुन शेष इस नृशस और वीभत्स कर्म की तय्यारी को देख कर कांप उठा और देवताओं की शरण में गया । उस ने क्रम से प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण अग्नि, विश्वे देवो इन्द्र, अश्विनो और उपस् की स्तुति की । उपस् की स्तुति में उस ने

तीन मन्त्र पढ़े और उन से उस के एक-एक कर के तीनों बन्धन अपने आप खुल गए ।

१८ ऐसा होने पर ऋत्विजों ने शुन शेष को अपना भागी बना लिया और उस ने अपने पिता की प्रार्थना को ठुकरा कर विद्वामित्र को अपना पिता मान लिया ।

चरैवेति

१. अथ हैचशाक ऋणो जग्राह । तस्य होदर जज्ञे ।

तदु ह रोहितः शुश्रान । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ।

अर्थ—अथ ऋण ने इक्ष्वाकुसन्तान [हरिश्चन्द्र] को पकड़ लिया । उस [हरिश्चन्द्र] को जलोदर [रोग] पैदा हो गया । रोहित ने इस [घटना] को सुना । वह जंगल से वस्ती [की ओर] आया ।

टिपणिया—अथ—यह प्रारम्भ और घटनाओं में एक के बाद आने वाली दूसरी घटना के काल का सूचक अव्यय ॥ । इस पद को शुभ और मागलिक भी माना गया है । इ—यह वाक्य में शोभा आदि लाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है । यह अव्यय है । सामान्यतः हिन्दी में इस का कोई अनुवाद नहीं किया जाता है । कभी-कभी 'निश्चय' में अर्थ कर भी देते हैं । ऋण—ये ऋग्वेद में ऋत—नियम और व्यवस्था के देवता हैं । इन के तीन पाश हैं, जिन में वे अपराधियों को बांधते हैं । ये पाश उत्तम मध्यम और अधम कहलाते हैं । इन के दण्ड में सब डरते हैं । इन का जल से भी सम्बन्ध जोड़ा गया है । पुराणों में तो यममुद्र के देवता हैं । अतः इन के द्वारा बाँधा हुआ पुरुष जलोदर जन रोगों से पीड़ित होता है । ये नतिक अपराधों के दण्डदाता हैं । इस ग्राह्यान् में वरुण को शरीरधारी और मानवीय भावों से युक्त सरल, विश्वासी

और दूसरे को सुविधा का ध्यान रखने वाला चित्रित किया गया है ।
जमाद्—√ग्रह्+लिट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन । उदरम्—पेट—
पेट का बढ़ना—जलोदर रोग । जज्ञे—√जन्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन,
आत्मने पद । पैदा हुआ—हो गया । तत्—इस अर्थात् पिता के जलोदर
से पीड़ित होने को । उ—यह भी ह के समान पूरक पद है । शुश्रान्—
√श्रू+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । एयाय—आ+√इ+लिट् प्रथम
पुरुष एक वचन ।

२ तमिन्द्र, पुरुषरूपेण पर्येत्योनाच—

“नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।

पापो नृपद्वरो जन इन्द्र इक्षरतः सखा ॥

चरैवेति ।” इति ।

अर्थ—पुरुष के रूप में पास जा कर इन्द्र ने [उस रोहित
से] कहा—‘हे रोहित—हम ने सुना है कि जो घूमता-फिरता
नहीं है उस को लक्ष्मी नहीं मिलती है । मनुष्यों (=अपने
सम्बन्धियों) के धीच रहने वाला जन पापी होता है । नि मन्देह
इन्द्र गतिशील का मित्र होता है । अतः भ्रमण करो ही ।’

टिप्पणिया—इन्द्र—यह ऋग्वेद का सबप्रमुख और आर्यों का
मुद्ग और राष्ट्र का दैवता है । ऋग्वेद का अधिकांश भाग इसा की स्तुति
में है । इस के प्रमुख वर वृत्त के साथ मुद्ग करना और सोमपान करना
है । पौराणिक सम्प्रदाय में यह देवा का राजा और स्वर्ग का शासक
है । इस का दूसरा प्रधान गुण सम्पत्ति का स्वामित्व है । पुराणों का
इन्द्र पञ्चवक्त्रकारी है । अतः यहां भी रोहित को बहकाने में ममक
होता है । पर्येत्य—परि+आ+√इ+ल्यप् । उवाच—√वृ+लिट्
प्रथम पुरुष एक वचन । अनाश्रान्ताय—न था हुआ जो विश्रामी जीव

नही है, कमठ है। शुश्रुम—√श्रु+लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन । पाप—पापमस्यास्ति । पाप+अच । नृपद्—नृपु सीदति । मनुष्यो म रहता है । चरत—√चर+क्षत्, पुल्लिङ् प्रथमा बहुवचन । चरैव—चर+एव । चर्—√चर्+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन ।

३. “चरैवेति” वै मा ब्राह्मणोऽनोचद्” इति ह द्वितीय मनत्सरमरण्ये चचार । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ।

अर्थ—‘नि सन्देह ‘विचरण करो’ यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है,’ यह [सोच कर रोहित] दूसरे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा । यह जंगल से घस्ती की ओर आया ।

टिप्पणिया—अनोचत्—√अन् से श्रुड् प्रथम पुरुष एक वचन । वै—यह ‘निश्चय’, ‘नि सन्देह’ वाचक अव्यय है । मा—अस्मद् से द्वितीया एक वचन का अवादेश रूप है । यह वाक्य के प्राग्भूत म पयुक्त नहीं होता है । चचार—√चर+लिट् प्रथम पुरुष एकवचन ।

४. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

“पुष्पिण्यां चरतो जड्वे भूष्णुरात्मा फलग्रहि” ।

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान भ्रमेण प्रपये हतारचरैवेति ॥”

इति ।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा—“विचरण करने वाले ती दोनों जघाण फूलों से युक्त हो जाती हैं । [उस की] आत्मा ऐश्वर्यशाली और फल को प्राप्त करने वाली हो जाती है । उस के भव पाप [लम्बे] प्रशस्त मार्ग पर [भ्रमण की] थकान [या परिश्रम] से नष्ट हुए सो जाते हैं । इस लिए भ्रमण करते ही रहो ।”

टिप्पणिया—पुष्पिण्यौ—स्त्रीनिग पद—‘जघे’ का विशेषण है। पुष्पाणि अस्या ज्ञातानि सन्ति वा सा पुष्पिणी, ते। पूतों से युक्त फूल आने पर ही फल आता है। मासिक धम से युक्त स्त्री को भी पुष्पवती कहते हैं क्या कि वह गम धारण करने में समर्थ होती है। अतः यहाँ जघाए परिश्रम के फल प्राप्त करने वाली हो जानी है और धूमने वाला सफलता प्राप्त करता है। अतः यदि तुम परिश्रम करोगे तो तुम्हारे मन की इच्छा—वरण देवता की वलि दिये जाने से मोक्ष—की सिद्धि हो जायगी और तुम्हारा पिता भी ठाक हो जायगा। अतः परिश्रम करो, धूमो, अग्नी घर मत जाओ।’ इन्द्र के ममस्त वधना का यही अंतिम और एक भाग लक्ष्य और भाव है। चरत—√चर् + शतृ + पठ्ठी एक वचन पुल्लिङ्ग। धूमने—परिश्रम करने वाला। भूगु—√भू + स्तु। होने वाला धन वमाने—प्राप्त करने वाला अतः एवम-शाली, समृद्ध। फलमहि—फल वृद्धाति इति। फल + √ग्रह् + कि। फल प्राप्त कर लेने वाला सफल। शोरे—√शी से लट प्रथम पुरुष बहुवचन का वदिक रूप। लौकिक रूप शेरत होता है। पाप्मान—पाप्मन् से प्रथमा बहुवचन, पुल्लिङ्ग। पाप, कष्ट, दुःख। वदिक दशन में दुःख निधनता, रोग आदि को पाप माना गया है। देवी हमारा ‘वदिक दशन’ नामक लेख। प्रपये—प्रकृष्ट पया, तन्मिन्। प्र + पथिन् + अ। हता—√हन् + क्त + पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन।

५. “‘चरैवेति’ वै मा ब्राह्मणोऽगोचद्” इति ह तृतीय सनत्मरमरणये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—‘नि सन्देह भ्रमण करो’ यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है,’ यह [मोच कर रोहित] तीसरे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

६. तमिन्द्र, पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

“आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति ॥” इति ।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा—“बैठे हुए का ऐश्वर्य [या-सौभाग्य] बैठा रहता है, खड़े हुए का ऊपर [सीधा] खड़ा रहता है, लेटे हुए [या सोए हुए या पड़े हुए] का सोता है और भ्रमण करने वाले का ऐश्वर्य [या सौभाग्य] अश्वर्य ही गति करता रहता है [अर्थात्-विकसित होता-जड़ता रहता है] इस लिए घूमते ही रहो ।’

टिप्पणियाँ—आस्ते—√आस् वटना में लट् प्रथम पुरुष एक वचन । भग—√भज् + घ । ऐश्वर्य, सौभाग्य । वेद में यह ऐश्वर्य का द्योता है । सविता आदि के साथ दम से भी धन देने की प्रायनाएँ की गई हैं । प्रातःकालीन प्रायना में अग्नि इन्द्र आदि देवताओं से भग—ऐश्वर्य देने की प्रायना की गई है । देखो यजुर्वेद ३४।३४-४० । आसीन—√आस् + शानच् । तिष्ठत—√स्था + शतृ + पुल्लिङ्ग पठ्यो एक वचन । शेते—√शी + लट् प्रथम पुरुष एक वचन । निपद्यमानस्य—नि + √पद + (दिवादिगणीय य) + शानच् + पठ्यो एक वचन पुल्लिङ्ग । गतिहीन, पड़ा हुआ सोया हुआ । चराति—√चर् + लेट् प्रथम पुरुष एक वचन । वेद में एक लट् लकार भी होता है, जो लोट् में नहीं मिलता है । सामान्यतः यह लेट विधिलिङ् के अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहाँ पर ‘सभावना आशा और अवश्यभावितों के भाव अभिप्रेत हैं ।

७. “‘चरैवेति’ वै मा ब्राह्मणोऽनोचद्” इति ह चतुर्थं मन्त्रमरणये चचार । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ।

अर्थ—‘नि सन्देह ‘भ्रमण करते ही रहो’ यह ब्राह्मण ने मुझे कहा है” यह [सोच कर रोहित] चौथे वर्ष [भी] जगल में घूमता रहा । उह जगल से वस्ती की ओर आया ।

८ तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

“कलिं शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापरः ,

उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृत सपद्यते चरश्चरैवेति ॥” इति ।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा— ‘सोता हुआ [पुरुष] कलि [के समान] होता है जागता हुआ [शब्दार्थ—नींद को त्यागता हुआ] द्वापर [के समान होता है], [विस्तर से] उठता हुआ त्रेता [के समान] होता है और गति करता हुआ कृत [के समान] हो जाता है । इस लिए अनश्व ही भ्रमण करते रहो ।”

टिप्पणिया—कलि , द्वापर , त्रेता , कृतम्—मनु ने मनुस्मृति में भी नहीं भाव प्रकट किया है—

“कलिं प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापर युगम् ।

उर्मस्तत्रभ्युद्यत्तत्रेता निचरस्तु कृत युगम् ॥” [६।३०२]

सायण ने मनु के भाव के अनुसृत कलि आदि पदा को चारों युगों का द्योतक माना है । भाव यह है कि जिस प्रकार कलिपुत्र आदि में धम की स्थिति हानी है, उसी प्रकार सोते हुए आदि मनुष्यों के भाग्य की होनी है । सत्ययुग (—कृतयुग) में ही धम अपने पूरुष उत्त्पत्ति पर होता है अतः परिश्रमशील का भाग्य भी चरम उत्त्पत्ति को प्राप्त होता है । कुछ विद्वान् इन कलि आदि को लूएँ में इन नामों वाली पानों की फेंको का द्योतक मानते हैं । भाव दोनों में समान है । शयान—√शी+शानच् । सजिहान—सम्+√हा (जाना)+शानच् । उत्तिष्ठन्—उ+√स्था+

घट्ट + पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन । सपद्यते—सम् + √ पद + लट् प्रथम
पुरुष एक वचन । चरन्—√ चर् + घट्ट + पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन ।

६ “ ‘चरैवेति’ वै मा ब्राह्मणोऽत्रोचद्” इति ६
पचम सप्तत्सरमरण्ये चचार । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ।

अर्थ— नि स देह ‘भ्रमण करते ही रहो’ यह ब्राह्मण ने
मुझे कहा है”, यह [सोच कर रोहित] पाचवें वर्ष [भी] जगल
में घूमता रहा । वह जगल से बस्ती की ओर आया ।

१०. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योपाच—

“चरन् वै मनु रिन्दति चन्द्र म्बाहुमुदुम्बरम् ।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाण यो न तन्द्रयते चग्च्चरैवेति ।”

इति ।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को
कहा— गति करता हुआ [पुरुष] निश्चय ही शहद [के महश
मीठे और] उदुम्बर [= गूलर के सत्रा] रगादिष्ट [फल] को
प्राप्त करता है । सूर्य के परिश्रम [कीथ-प्रमुखता-वैशिष्ट्य, गंगा
प्रसाद-सौंदर्य, सायण-श्रेष्ठता] को देखो जो गति करता हुआ
[कभी भी] आलस्य नहीं करता है । अतः घूमते ही रहो ।

टिप्पणिया—मधु और उदुम्बरम् में उपमा अभिप्रेत है ।
इहे तादात्म्यजय अतिशयोक्ति का रूप भी माना जा सकता है ।
उदुम्बर— गूलर, इजीर । श्रेमाणम्—भाष्यकारों और अनुवादकों ने
इस लक्ष्मी के वाचक श्री में मान कर अर्थ किए हैं । परन्तु थम का
प्रकरण होने से इसे थम के अर्थ में लेना और √ थम् से व्युत्पन्न करना
ही ऐतरेयकार की अभिप्राति है । √ श्री (उमालना, पकाना) से व्युत्पन्न

करने पर यह भाव प्राप्त किया जा सकता है । तन्द्रयते—तद्रा करोति । तद्रा से नामघातु, लट् प्रथम पुरुष एक वचन ।

११. “ ‘चरैवेति’ वै मा ब्राह्मणोऽवोचत् ” इति ह पृष्ठ सरत्सरमरण्ये चचार । सोऽजीगर्त मौयगमिमृषिम-
शनया परीतमरण्य उपेयाय, इति ।

अर्थ—“नि सन्देह ‘घूमते ही रहो’ यह ब्राह्मण ने मुझ से कहा है”, यह [सोच कर रोहित] छठे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा । [वहा] जंगल में उस [रोहित] ने भूख से सताए हुए सुयवस के पुत्र अजीगर्त [नामक] ऋषि को पाया ।

टिप्पणिया—सौयवसि—सुयवसस्य अपत्य पुमान् सुयवस + इज् । अशनया—अशना (-भूख) तृतीया एक वचन, स्त्रीलिङ्ग । परीत—परि + √ ह + क्त । उपेयाय—उप + √ इ + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन ।

१२. तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः—शुन पुच्छः, शुन-
शेपः, शुनोलाङ्गूल इति ।

अर्थ—उस के तीन पुत्र थे, [जिन के नाम] शुन पुच्छ
शुन शेप और शुनोलाङ्गूल [थे] ।

टिप्पणिया—आसु — √ अस् + लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन ।
लोक म लिट् आदि आघघातुक लकार में √ अस् को √ भू हो जाता है,
केवल कारयामास आदि रूपों में ही √ अस् रहता है परन्तु यहाँ √ भू न
हो कर √ अस् हो रहा है । शुन पुच्छ आदि—ये नाम इसी प्रकार
के मान्य पड़ते हैं जैसे आज-कल ब्रह्मल, मूसा, चोबा, तोनाराम,

द्विषन्तो मत, बरफी, इमरती, जनेयो, चौयमल आदि नाम रखे जाते हैं। गुन श्वन् (कुत्ता) से पण्डी एक वचन का रूप है। पुच्य और तापूच दोनों पूछ के और रोप प्रजनन इन्द्रिय का वाचक हैं। बंद म गुन 'मुख का भी वाचक है, और रोप 'स्पृश' का। अतः इन नामों को इस गुन — मुख से भी सम्बद्ध किया जा सकता है। हरियप्पा ने ऐसा ही माना है। दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है। ये मत इस लिये माननीय प्रतीत होने हैं कि वैश्वि ऋषिया और राज्ञाभ्यो आदि के नामों में कृतिमत् नामों की सत्ता चिरन्तो ही मिलगी।

१३. त होवाच—“अपेऽह ते शत ददामि। अहमेपामेकेनात्मान निष्क्रीणा” इति।

अर्थ—[रोहित ने] उस [अजीर्त] से कहा—‘हे ऋषि मैं तुम्हें सौ [सुवर्ण मुद्राएँ या गौएँ] देता हूँ। मैं इन [तुम्हारे पुत्रों] में से एक [पुत्र को यज्ञ में दे कर] अपने आप को अणु मुक्त कराना चाहता हूँ।

टिप्पणियाँ—शतम्—ये सौ क्या हैं ? यह नहीं लिखा गया है। उस वान म सुवर्ण मुद्राओं और गौओं से वय-विनय व्यवहार चलता था। गहिन जगत् में घूम रहा है। उस के पास मुद्रा तो हो सकती हैं, गौएँ होना सम्भव नहीं जान पड़ता। निष्क्रीणै—निस + क्री लोट उत्तम पुष्प एक वचन। मूल्य दे कर—अणु का धन दे कर अपने को मोक्ष लाना-छुड़ाना-बचाना चाहता हूँ। सवि म ए को आय और आय के म का ताप हो गया है।

१४ स ज्येष्ठ पुत्र निगृह्णान उवाच—“न निमम्” इति।

अर्थ—वह सत्र से बड़े पुत्र को पकड़ता हुआ बोला—
‘निश्चय ही इस को [तो नहीं दूंगा, और किसी को ले
सकते हो] ।’

टिप्पणिया—अपेष्ट—वृद्ध + इष्टम् । निगृहणान—नि +
√ग्रह + शानच् ।

१५. “नो एवेमम्” इति कनिष्ठ माता ।

अर्थ—माता ने मन्त्र से छोटे [पुत्र] को पकड़ते हुए कहा कि
‘न ही इस को [दूगी] ।’

टिप्पणी—कनिष्ठ—बुद्ध + इष्टम् ।

१६. तौ ह मध्यमे सपदायाचक्रतु शुनःशेषे ।

अर्थ—उन दोनों ने बीच के [पुत्र] शुन शेष पर [मूल्य
के फल को] सक्रान्त किया [अर्थात् धन ले कर बेचना-
देना स्वीकार कर लिया] ।

टिप्पणी—सपादयाचक्रतु—सम् + √पद + शिच् + लिट्
प्रथम पुरुष द्विवचन । एणञ् न घातुप्रो के अन्त में अम् लगा कर √कृ,
√भू और √अस् के लिट् लकार के रूपों का प्रयोग किया जाता है । अतः
यहाँ √कृ का लिट् मध्यम पुरुष द्विवचन का रूप लगाया गया है ।

१७ तस्य ह शत दद्या स तमादाय सोऽरण्याद
ग्राममेयाय, इति ।

अर्थ—वह [रोहित] उस [अजीर्ण] को सौ [मुद्रा]
दे कर उस [शुन शेष को ले कर वह [रोहित] जंगल से बस्ती
में आया ।

टिप्पणी—दद्या—√दा + क्वा । आदाय—आ + √दा + न्यप् ।

१८. स पितरमेत्योवाच—“तत हन्ताहमनेनात्मान निष्क्रीणा” इति ।

अर्थ—वह [रोहित अपने] पिता [हरिश्चन्द्र ऐन्द्राक] के पास आ कर बोला—“पिताजी, अहो, मैं इस [शुन शेष के दान] से अपने प्राण को [वरुण से उस का] देय चुका कर छुड़ाऊंगा।”

टिप्पणी—एत्य—आ + √इ + ल्यप् । तत—प्रिय जनो के लिए सम्बोधन पद है । इसी से बीच में ‘आ’ लग कर लौकिक साहित्य का “तात” पद बना है । हन्त—हृन् और शोक का सूचक शब्द है । यहा यह हृन् को व्यक्त करता है, क्या कि अब पिता और पुत्र दोनों सानन्द और सुरक्षित रह सकेंगे ।

१९. स वरुण राजानामुपसमार—“अनेन त्वा यज्ञा” इति ।

अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] राजा वरुण के पास गया [और कहा] कि [मैं] इस [शुन शेष] से तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहता हूँ ।”

टिप्पणीया—राजानम्—वरुण को वेदा में बहुत राजा कहा है, क्योंकि वह सृष्टि में नैतिक व्यवस्था का धारक है । उपसमार—उप + √मृ + सिट् प्रथम पुरुष एक वचन । त्वा—दुष्मद से द्वितीया एक वचन में आवादेश रूप है । यज्ञै—√यज् + लोट उत्तम पुरुष एक वचन आत्मनेपद ।

२० “तथेति । भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियाद्” इति वरुण उवाच ।

अर्थ—वरुण ने कहा कि “बहुत अच्छा । ब्राह्मण नि सन्देह क्षत्रिय से अधिक अच्छा [या फलदायक] होता है ।”

टिप्पणिया—भूयान्—बहु+ईयस+पुस्तिङ्ङ प्रथमा एक वचन ।

२१. तस्मा एत राजसूय यज्ञकृतु प्रोवाच । तमेतमभि-
पेचनीये पुरुष पशुम् आलेभे ॥ इति ॥

अर्थ—[उस वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र को] इस राज-
सूय नामक यज्ञ कर्म को [करने और उस में शुन शेष की बलि
देने के लिये] निर्देश दिया । [उस] अभिपेक [यज्ञ] में उस
पुरुष [शुन शेष] को पशु [रूप] में उपस्थित किया ।

टिप्पणिया—तस्मा—तस्मै का सचि म यह रूप हो गया है ।
राजसूय—राजा के राजतिलक किये जाने के समय की यनक्रिया ।
इस में तीर्थस्थानों से जल ला कर राजा को स्नान कराया जाता है ।
यज्ञकृतुम्—यन और कृतु सामान्यतः पर्यायवाची हैं । यहा इहे अग्नी
और अग के रूप में या विशेष्य-विशेषण रूप में लिया गया है ।
अभिपेचनीय—अभि+√सिच्+णिच्+अनीय । यह राजसूय के लिये
प्रयुक्त हुआ है । आलेभे—आ+√लभ्+ लिट् प्रथम पुरुष एक वचन ।
आ+√लभ् का प्रयोग वस्तु की हिंसा के लिये भी होता है । यहा अभी
न हिंसा की गई है और न आगे जा कर की जाती है । अतः धारण
वित्रा प्राप्त किया सज्जार किया मात्र अभिप्रेत है ।

[येतरेय ब्राह्मण ३३।३]

.३.

शतपथब्राह्मण

मत्स्यावतारेतिहासः

शतपथ ब्राह्मण में (भाई)

मछली के अवतार की कथा

शतपथ ब्राह्मण

१ शतपथब्राह्मण यजुर्वेद का व्याख्यान ग्रन्थ है। विद्वानों ने इसे वैदिक काल के अन्त का ग्रन्थ माना है। परन्तु हम की सामग्री पर्याप्त प्राचीन है और वैदिक काव्यकाल की समकालीन है। इस की भाषाशैली अन्य ब्राह्मणों की भाषाशैली के समान अपूर्ण, अपरिष्कृत, अनतिपरिस्फुट आवृत्तिपूर्ण निरर्थक शब्दों से युक्त और भावमयी है। इस में वैदिक प्रयोगों की बहुलता है। प्रकृत कथा में लेट् के रूपों, लिट् के प्रयोगों और निङ्ग आदि के व्यत्यय की छटा देखने योग्य है।

शतपथब्राह्मण के विषय

२ इस ब्राह्मण में १४ काण्ड हैं। इन में से पहले नौ म यजुर्वेद के पहले अठारह अध्यायों का अविकल व्याख्यान है। दसवे और ग्यारहवे काण्डों में अग्निरहस्य, बारहवे में प्रायश्चित्त तेरहवे में अश्वमेध और नरमेघ और चौदहवे में आरण्यक और उपनिषद् है। इस ब्राह्मण में वेदार्थ के लिये महान् सामग्री भरी पड़ी है। वेदार्थ और वैदिक संस्कृति और धर्म के ज्ञान के लिए इतनी उपयोगी पुस्तक शायद ही अन्य कोई हो।

आर्यान

३ अन्य ब्राह्मणों के समान इस में भी अनेकों रोचक आख्यान मिलते हैं। ये आख्यान सरल और ललित पदावली में सुश्रुत हुए हैं। ये आर्यान अनेकविध हैं।

मछली के अवतार की कथा

४ यह कथा शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय में आई है। जलप्लावन की कथा प्रायः ससार के सभी साहित्यों में पाई जाती है। परन्तु शतपथब्राह्मण की कथा जितनी सरल, सरल, स्वामाविक और मौलिक है उतनी अन्य किसी साहित्य में प्राप्त कथा नहीं है।

५ मत्स्यावतार की कथा बड़ी सरल और मक्षिप्त है। 'एक दिन मनु जी मुख धोने के लिये जल ले रहे थे कि उन के हाथ में एक मछली आ गई। मछली ने मनुजी से कहा कि 'मुझे पालो। मैं आने वाले जलप्लावन से तुम्हारी रक्षा करूँगी। पहले मुझे एक घड़े में रखना। फिर एक खाई में। जब बहुत बड़ी हो जाऊँ तो समुद्र में छोड़ देना। जब जलप्लावन हो तो एक नौका में चढ़ जाना'। मनु ने मछली को पाला। जब वह बड़ी हो गई तब उसे समुद्र में छोड़ दिया। नियत समय पर जलप्लावन हुआ। मनु नौका में चढ़ गए। मछली ने आकर नौका को पानी में तैरा दिया और उसे उत्तर में हिमालय पर्वत पर ले गई। वहाँ जाकर उसने मनु को आदेश दिया कि वह नौका को वक्ष से बाध दे और जैसे-जैसे पाने उतरने लगे मनु भी पर्वत से नीचे उतरे। मनु ने आज्ञा का पालन किया। जिस स्थान से मनु नीचे उतरे उसे अब भी 'मनोरवसर्पण' कहते हैं। इस जलप्लावन में समस्त प्रजा बह गई थी। केवल मनु बचे थे।

इस आख्यान की कथा आगे भी चलती है, परन्तु उस में कथानक का अंश अत्यल्प है। इस अंश के अनुसार भव मनु सतान की इच्छा करते हुए धूमने लगे। उन्होंने पाकयज्ञ किया। जिस में धो, दही आदि की जल में आहुति दी। उस से उन्हें एक पुत्री हुई जिस का नाम इडा था। इडा के निवेदन पर मनु ने उसे यज्ञ में अपना साथी बना लिया। उस से मनु ने मानव जाति की सृष्टि की। यह इडा प्रयाजानुयाज का मध्य ही थी। यही इडा पात्रस्य यज्ञ सामग्री थी। जो इस प्रकार रहस्य को जान लेता है, वह भी मनु के सदृश प्रजा की सृष्टि कर सकता है।

सानुवादो मत्स्यावतारेतिहासः

अनुवाद सहित मछली के अवतार की कथा

.१.

मनवे ह वै प्रातर् अग्नेग्यम् उदरम् आजहुर्, यथेद पाणिम्याम् अग्नेजनायाहरन्त्येन तस्याग्नेनिजानस्य मत्स्य पाणी आपेदे ॥१॥

अर्थ—[एक दिन] प्रातः काल मनु के लिए [मुख आदि] धोने के लिए [सेवक] जल लाए। जैसे इस [जल] को हाथों से [मुख आदि] धोने के लिये लेते हैं, उसी प्रकार बार-बार मुख धोते हुए उस [मनु] के हाथों में [एक] मछली पहुँच गई।

१ टिप्पणिया—हू और वै ये दोनो शब्द अव्यय हैं और निश्चय के अर्थ में वेद में प्रयुक्त होने हैं । वाक्य में इसका कोई विशेष अर्थ नहीं लगता है । अश्वनेग्यम्—अश्वनेग्यते प्रक्षाल्यते मुखहस्ताद्यनेन इति अश्वनेग्यम् । अश्व+√निज् + यत् । आजहू — आ+√हृ + लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन । अश्वनेजनाय—(मुखादि) धोने के लिए । अश्व+√निज् + ल्युट् + चतुर्थी एक वचन नपुंसक लिङ्ग । अश्वनेनिजानस्य—अश्व+√निज्+गृह्+शानच् । पष्ठो ण्व वचन पुल्लिङ्ग । बार-बार धोने हुए के । आपेदे—आ+√पद+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । इस के लिट् के रूप ये हैं—आपदे आपदाते आपदिर । आपदिषे आपेदापे आपेदिष्व । आपद आपदिवह आपेदिमह ।

२

[मन्व्य] म हास्मै वाचमुवाद । “मिभृहि मा । पारयिष्यामि त्वेति ।”

[मनु] “कस्मान्मा पारयिष्यसीति ।”

[मन्व्य] “अथैष इमा सर्वा प्रजा निर्वोटा, ततस्त्वा पारयितास्मीति ।”

[मनु] “कथं ते भृतिरिति ॥२॥

२ अर्थ—उस [मध्वली] ने उस [मनु] से वचन कहे [अर्थात्—उद्वा] । ‘मुझे पालो । [मैं] तुम्हें पार उतारूंगी [या—उचाऊंगी] ।’

[मनु ने मध्वली से पूछा]—‘मुझे किस से पार उतारूंगी [या—उचाऊंगी] ।’

[मछली ने उत्तर दिया]—‘जन का समूह इन सब प्रजाओं को बहायेगा । तुम्हे उस से पार उतारगी [या-यचाउगी] ।’

[मनु ने कहा—‘अच्छा । परन्तु यह तो प्रजाओं] कि तुम्हारा पालन-पोषण कैसे हो ।’

२ उग्रा—√वद्+नित प्रथम पुरुष एक वचन ।। गृभृ ह् गृ+लोद् मध्यम पुरुष एक वचन । पारयिष्यामि—√पृ+णिच्+लट उत्तम पुरुष एक वचन । अथवा—√पाल्+लट उत्तम पुरुष एक वचन । त्वा-युष्मद् शब्द का द्वितीया एक वचन । मा—अम्भश् शब्द का द्वितीया एक वचन । अथ—जन का समूह । जलप्तावन । निर्वोढा—निर+√वह्+लुट लकार प्रथम पुरुष एक वचन । इस लकार न इन ४ रूप ये है—निर्वोढा निर्वोढागे निर्वोढार । निर्वोढामि निर्वोढाम्य निर्वोढास्व । निर्वोढास्मि निर्वोढास्व निर्वोढास्म । पारयितास्मि—√पृ+णिच्+लुट उत्तम पुरुष एक वचन । भृनि—पालन । √भृ+भिनन्+स्त्रीति प्रथमा एक वचन ।

.३

[मत्स्य] म होगाच । “यामद् वै क्षुल्लका भयामो गृहीरे नस्तावन नाप्या भयति । उत मत्स्य एव मन्मथ गिलति । कुम्भ्या माग्रे विभरामि । म यदा ताम् अतिगर्द्धा अथ रूपं खात्या तस्या मा विभरामि । म यदा तामतिगर्द्धा अथ मा ममुद्रम् अभ्यगहरामि । तर्हि मा अतिगर्द्धा भयितास्मीति” ॥३॥

३ अर्थ—उह [मछली] दोली—‘जब न [इन] दोहे से [प्राणी] रहन है, तब तब नि मन्देह हमार नरने पाले

[प्राणी] उहुन हेते हैं । ओर [एक] मछली ही [दूमरी] मच्छली को निगल जाती है । मुझे घड़े में [अपनी आँखों के] सामने पालना । वह [मैं] जब उस [घड़े] से बढ जाऊ तब खाई बोट कर मुझे उस में रखना [या-पालना] । वह [मैं] जब उस खाई से [भी] उडी हो जाऊँ तब मुझे समुद्र में छोड देना । मर नि सन्देश [मैं] नाशक प्राणियों की पहुँच से बाहर हो जाऊँगी ।'

३ दिव्यश्रिया—यागन्—जब तब अथवा—वया कि । तुलका—छोट में । घल्ली—बहु पद से स्त्रीलिंग द्वितीया एक वचन । न—अस्मद का पष्ठी बहु वचन । नाष्ट्रा—नाशक नष्ट करने वाला मारने वाला । √नश+णिच्+नन् । उत—और । गिलति—√गृ, निगलत्+लट प्रथम पुरुष एक वचन । कुम्भ्याम्—कुम्भा (घड़ा) सप्तमा एक वचन । विभरासि—√भृ पालना धारण करना+लट् लका मध्यम पुरुष एक वचन । बदिक् साहित्य में विधिगत के अर्थों में एक अत्र लकार का भी प्रयोग होना है जिसे लेट् लकार कहते हैं । इस कहानी में लेट् के अनेक प्रयोग आए हैं । अतिवर्धे—अति+√वृध बढ़ना (स्वादि० आत्मनपद) +लेट् उत्तम पुरुष एक वचन । अपृम्—वाई । द्वितीया एक वचन, स्त्रीलिंग । खार्या—√खन् खोदना+कवा । मा—अस्मद स द्वितीया एव वचन का वक्तव्य रूप है । अभ्ययहरास—अभि+अव+√ह+लेट मध्यम पुरुष एक वचन छोड़ देना । अतिनाष्ट्र—अतीत नाष्टान् इति अतिनाष्ट्र मारने वाले नाशक प्राणियों से पर । अर्थात् उन की पहुँच से पर । भवितास्मि—√भू होता+तुट् लकार उत्तम पुरुष एक वचन । तुट् लकार आज से भवि (अतःपुनः) भविष्य काल के लिये प्रयुक्त होता है ।

४.

[अत्र मनु ने मछली को पालना आरम्भ कर दिया ।]

४. शयद्भू भूय आस । स हि ज्येष्ठ वर्धते ।

[मत्स्यः] “अथेतिथी समा तदोष आगन्ता । त मा
नाममुपकल्प्योपासामै । स औष उत्थिते नाम-
मापद्यासै, ततस्त्रा पारयितास्मीति” ॥४॥

४ अर्थ—बह [मछली] जल्दी ही बड़ा मच्छ हो गई
क्यों कि बह [अर्थात्-मछली] बहुत तेजी से बढ़ती है ।

[अत्र मछली ने मनु से कहा कि—]

“अब निश्चित अबधि वाले वर्ष मे यह जलसमूह
आयेगा । तब एक नौका बना कर मेरा आश्रय लेना । बह [तुम]
जलप्लावन के उमड़ने पर नौका मे बैठ जाना । तब मैं तुम्हे बचा
दूंगी [या-पार उतार दूंगी ।”]

४ टिप्पणिया—शरजत्—शीघ्र ही । मत्स्य—मच्छ बड़ी
मछली । द्वि-क्यो कि । व्येष्ठम्—बहुत ही अधिक अर्थात् बहुत जल्दी ।
प्रदास्य (या) वृद्ध-+इष्ठन् । इतिथीम्—इयतीना दशाना द्वादशाना वा
पूरणी तिथि इतिथी । जिस म इतनी पूरक तिथिया ह। इदम् + तिथि
+ई (डीप) । अथवा—इयत्य तिथय यस्या सा इतिथी—इयत +
तिथि-इतिथि । इतने दिन जिस म हो । दोनों अर्थों का एक ही भाव
है—निश्चित अबधि वाले । अमुक् फला । यह समाम् शब्द का
विशेषण है । समाम्—वष । यह शब्द बहुधा स्त्रीलिंग बहुवचन मे ही
प्रयुक्त होता है । देखो—कुबन्धवेह कर्माणि जिजिविषेच्छन् समा ।
यजुर्वेद ४०।२। परंतु यहां पर एक वचन मे ही प्रयुक्त हुआ है ।
तथाच—तब के स्थान पर स का प्रयोग होना चाहिय था । औष —
जल का समूह । जलप्लावन । आगन्ता—आ+√गम् + सुट प्रथम
पुरुष एक वचन । उपकल्प्य—उप-+√कल्प (बनाना) + ल्यप् ।
उपासासै—सेवन करना आश्रय लेना । उप-+√आस बठना + लेट

मध्यम पुरुष एक वचन । आप्यामै—आ+√पृ प्राप्त होना+नेट्
मध्यम पुरुष एक वचन । पारयितास्मि—√पृ वचना, पार गगना+
शिच+लुट् उत्तम पुरुष एक वचन ।

[अत्र ऋषि जलप्लावन की कथा आरम्भ करते हैं ।]

५.

तमेव भृत्या समुद्रमभ्यवजहार । स यतिर्या तत्तमा
परिदिदेश, ततिथी १ समा नागम् उपकल्प्योपामाञ्चक्रे ।

म औघ उत्थिते नागमापेदे, त १ म मत्स्य उपन्या-
पुप्लुवे, तस्य शृङ्गे नाग. पाश प्रतिमुमोच । तेनैतमुत्तरं
गिरिमधिदुद्राव ॥५॥

५ अर्थ—उस [मछली] को इस प्रकार [अर्थात्—जैसे-
जैसे मछली ने बताया था—पटले घड़े में और फिर दारु में]
पाल कर [मनु ने उसे] समुद्र में छोड़ दिया । उस [मछली]
ने जितनी अवधि बाले उस [जलप्लावन के] वर्ष का निर्देश
किया था उस अवधि बाले [अर्थात्—उसी] वर्ष में [मनु]
नौका बना कर [उस का] सेवन करने लगा [अर्थात् उस नाग में
रहने लगा] ।

जल समूह के आने पर वह [मनु] नाव में चढ़ गया ।
वह मछली उस [मनु] से पास [नाग के] नीचे आ गढ़ । उस
[मछली] के सींग में [मनु ने] नौका की रस्सी को बांध दिया ।
उस [नौका की रस्सी] के साथ वह [मछली] उत्तर दिशा के
पर्वत [हिमालय] पर वेग के साथ चली गई ।

५ टिप्पणिया—भृत्या—√भृ पालना+क्या । अभ्यवजहार—
अभि+अव+√हृ (छोड़ना) +लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । छोड़
दिया । यतिथीम्—इतिथी के समान यावन+तिथि—यतिथी ।

जितना अवधि बाले । तत्—‘ताम्’ होना चाहिये । परिदिदेश—परि
 + √दिग + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । तत्तिसीम्—तावन + तिथि ।
 उत्तरी अवधि बाल । उपासाचने—बठ गया । सेवन किया । उप +
 √धा + कृटना + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । उत्थिते—उत् + √स्था +
 क्त + कृ + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । उत्थन पर समझने पर भान पर ।
 आपेदे—आ + √पद + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । उपन्यापुन्ये—
 उप + नि + धा + √प्ठु जाना तरना + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन ।
 समीप में नीचे आ गई । प्रतिमुमोच—प्रति + √मुच + लिट् प्रथम
 पुरुष एक वचन । वाय दिया । अग्निदुद्रार—अग्नि + √द्रु जाना,
 दौन + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । बग से चली गई दौग गई ।

.६

[मन्त्र्यः] स होयच । “अपीष वै त्या । वृत्ते नान प्रति-
 गन्धीष्य । त तु त्या मा गिरौ सन्तम् उदकम्
 यन्तरक्ष्मिद्, यावद् उदकं ममराऽयात्,
 तावत् तावदन्वयमर्पामीति ।

म ह तावत् तावदेवान्यममर्ष । तदप्येतदुत्तरम्य
 गिरिमनोरमपणमिति ।

ओधी ह ता नर्ग प्रना निरुगाह । अथेऽमनुरेवैकः
 परिगिशिपे ॥६॥

[गतपथब्रह्मणे १ अ. १. १-६]

६ अर्थ—यह [मछली] बोली—‘नि सन्देह [मैं ने] तुम्हें
 पार उतार लिया है] या—बचा दिना है] । [अर अपनी] नाव
 को दूज से बाँट दो । नि सन्देह परत पर वर्तमान तुम्हें जल

बिल्कुल भी नष्ट नहीं कर सकेगा [शब्दार्थ—नहीं। नाष्ट
सकेगा]। जैसे-जैसे जल नीचे उतरता जाए वैसे-वैसे [तुम
भी] नीचे उतर आना।

उह मनु [जैसे-जैसे जल नीचे उतरता गया] वैसे-वैसे ही
नीचे उतर आया। [जहाँ से मनु नीचे उतरे] उत्तर दिशा के
पर्यंत [हिमालय] के उमड़न [स्थान] को भी 'मनोरदन'ण'
(मनु न उतरने का स्थान) [रहने हैं]।

जन्मलाभ ने उन सब प्रजाओं को उहा दिया। तब उहा
[इम सनार मे] मनु ही अरेला बचा।

६ टिप्पणियाँ—अपीपरम्—अपि वचना, उतरना + अपि +
हुट्, उत्तम पुरुष एक वचन। पार उना' दिया है। बचा दिया है।
मन्तम्—अत हाता + तृ + पुल्लिङ् द्वितया एक वचन। अत —
अत तक पूरा रूप में बिल्कुल। मा द्वैत्मीन—मा के नाम में हुट्,
सनार का प्रयोग होता है और अ का साथ हा जाता है। अन्तेत्सीत्—
अहिद + लुट्, प्रथम पुरुष एक वचन। इस वाक्य का अर्थ 'गिरी नु
गन्त तत्वा उदकम् अत मा छत्वीन' होगा। समयायान्—सम् +
अव + णा + लृट्, प्रथम पुरुष एक वचन। उहा १२ लट् लकार
का प्रयोग विधिलिट्, क अथ में होता है। उच्छटी प्रकार नाचे जाए
प्रदान उतान लो। अन्यसर्पामि—अनु + अव + लृट्, जाना + लट्
लकार मध्यम पुरुष एक वचन। नाचे उत्तमा। अन्धससर्प—अनु +
अव + लृट् + लिट्, प्रथम पुरुष एक वचन। अना।
असर्पणम्—अव + लृट् + लुट् + अनुमत्ति प्रथमा एक वचन।
निम्नाह—निर् + लृट् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। अनेह—अथ +
लृट्। परिशिशिरे—अति + लृट् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

मनोः प्रजातिः

मत्स्यावतारेतिहासस्योत्तरार्द्धः

१. सोऽर्चञ्छाम्यश्चचार प्रजाकामः । तत्रापि पारु-
यज्ञेनेजे । स घृत दधि मस्तुगामिच्चामित्यप्सु जुह्वाञ्चकार ।
ततः सवत्सरे योषित् सम्बभूव । मा ह पिबदमानेनोदेयाय ।
तस्यै ह स्म घृत पदे मन्तिष्ठते । तथा मित्रावरुणौ
सज्जग्माते ॥७॥

मनु की प्रजा

(मछली के अवतार की कथा का उत्तरार्द्ध)

१ अर्थ—सन्तान का इच्छुक वह [मनु] पूजा करता हुआ और
काट भेलता हुआ रहने लगा । बड़ा भी उस ने पाखण्ड से हवन
किया (अर्थात् पौष्टिक पदार्थों का सेवन किया) । उस ने जलों
(अर्थात् प्राणों) में घी, दही दही की मलाई, दही के पानी (अथवा
दूध और दही की बनी लप्सी (का हवन किया । (=ज्ञान किया
अर्थात्—सेवन किया) । उस से ७५ वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न
हुई । वह तो मानो शरीरधारी पाखण्ड ही उठ आई थी । उस के
[निर्माण] के लिए आहुतियों में घी त्रिद्यमान था । उस [स्त्री]
से मित्रावरुण देवताओं (अर्थात्—प्राण और अपान, या प्राण
और उदान) की भेंट हुई ।

एक वष में स्त्री की उत्पत्ति का भाव अथर्ववेद ८।१०()।
में भी है।

१ टिप्पणिया—अर्चन्—√अच पूजा करना + शतृ + पुल्लिङ्ग
प्रथमा एक वचन । देवता आ की पूजा करना हुआ । आभ्यन्—√अभ्
थक्ता परिश्रम करना + शतृ + पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन । थक्ता हुआ,
परिश्रम करता हुआ अर्थात् कष्ट भोगना हुआ—तप करता हुआ ।
पाक्यज्ञेन—शतपथब्राह्मण में लिखा है—‘पशवो हि पाक्यन्
(२।३।१।२१) ‘पशवो वा इडा (१।८।१।२०) । अपि च—शतपथब्राह्मण
१।८।१।१२-१३ के आधार पर इडा का अथ इडा नामक यज्ञपात्र में
रक्षी हुई पुरोडास आदि सामग्री है । यह पशु है । यही पाक्यन् है ।
अतः इन ब्राह्मण के मत में पाक्यन् का अथ इडापात्र में रक्षी हुई
सामग्री है । इस अर्थ की पुष्टि अथर्ववेद ४।१०।११—‘इडाया जुह्वतो
वयं यतवता यजे । गृहाननुमन्तो वयं स विशेमोष गोमत —यन् म
धीयुक्त सामग्री स हवन करत हुए लालचहीन हम गायत्री से भरे हुए घरो
को प्राप्त हो—से भी होती है । यहा यह सामग्री घन दधि मस्त्रवा
मिक्षाम् इन पदों में बनाई गई है । अपम् घृत का अथ प्राण है ।
अतः पीष्टिक पदार्थों की प्राणों में आहूति अर्थात् उन का प्रयोग ही
पाक्यन् होता है ।

गोपथ ब्राह्मण (१।५।२३) के मत में साय प्रातर्होमी
स्थानीपाको नवद्वय । वनिद्वय पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तम
पशुरित्येते पाक्यज्ञा । अथान—(१) प्रात और (२) साय हवन करना
(३) नया पीष्टिक भोजन तय्यार करना (४) दलिवश्वद्वय यज्ञ (५) पितृ-
यज्ञ (६) अष्टका यज्ञ और (७) पशुपालन यज्ञ—ये सात यज्ञ पाक्यन्
होते हैं । आश्वलायन अपने गृह्यसूत्र में इन की संख्या तीन ही बताते हैं
और मनु चार ।

ईजे—√यज + लिट् प्रथम पुष्ट्य एक वचन । मस्तु—
दही को मलाई । आमिक्षा—दही का पानी जधवा दूध और दही को

मिल कर बनाई हुई लसी । आसु—अलो म प्राणा मे । [देखो आपो व प्राणा । सतपथब्राह्मण ३।८।२।४] । जुहवाचकार—√हु हवन करना दान करना ग्रहण करना—लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । हवन किंवा ग्रहण किया । पिबद्माना—श्री मोनियर विलियम्स ने इस का अर्थ 'स्थिर' हठ लिया है । ऋग्वेद १०।१०१।११ मे सायण ने इम का अर्थ शब्द करते हुए किया है । परन्तु यहा पर 'धारण करते हुए' अर्थ ही उपयुक्त है । सायण ने यहा पर इम का अर्थ 'पाकधर्मात्मिका' अर्थात् 'पाकयज्ञ रूप किया है । इस ब्राह्मण के आगे के लख से इनो अर्थ की पुष्टि होती है । अतः इस का सरल अर्थ शरीरधारी पाकयज्ञ किया जा सकता है । तस्य मे तादृष्य मे चतुर्थी है । पदे—स्थान मे आहूतिया मे । उदेयाय—उद+आ+√इ जाना—लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । मित्रावरुणौ—मित्र और वरुण देवता । प्राण अपान या प्राण और उदान को भी मित्रावरुण कहत हैं । सजग्मात—सम्+√गम् जाना—लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन आत्मनेपद । मिल ।

२. ता ॐ होचतु—काऽसीति । मनोर्दुहितेति । आयोर्ब्रूष्वेति । नेति होवाच । य एव मामजीजनत, तस्येनाऽहमस्मीति । तस्यामपि तन्मीपाते । तद्वा जज्ञो तद्वा न जज्ञावतित्वेवेयाय । सा मनुमाजगाम ॥८॥

२ अर्थ—उन [मित्र और वरुण—प्राण और अपान या प्राण और उदान] ने उस [पाकयज्ञात्मिका स्त्री] से पूछा—[तुम] कौन हो ? [उस स्त्री ने उत्तर दिया] कि [मैं] मनु की पुत्री [हूँ] ।' [मित्रावरुण ने कहा कि ऐमा मत कहो वरन्] यह कहो कि हमारी पुत्री हो] ।

[उस स्त्री ने] उत्तर दिया—नहीं । [यह कहना सम्भव नहीं] । जिस ने ही मुझे उत्पन्न किया है उस की ही मैं [पुत्री] हूँ ।

परन्तु उम [स्त्री] पर भी वे नोनो [मित्र और वरुण] शासन करते हैं (अर्थान्—अधिकार रखते हैं) । उम [स्त्री] ने इस [तथ्य] को माना अथवा न माना परन्तु वह [उहा से] चली गई । वह मनु के पास पहुची ॥२॥

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि प्राण और अपान या प्राण और रुदान ने शरीरधारी पाक्यन रूप स्त्री (अपान—पौष्टिक पदार्थों के भवन से उत्पन्न शक्ति) ने पूछा कि वह कौन है । उम स्त्री ने कहा कि मुझे मनु ने बड़ी कठिनाई में [दृ दु खेन हिमा स्थापिता प्राप्ता इति दृष्टिता] प्राप्त किया है । इस पर मित्रावरुण (प्राण, अपान) ने उम स्त्री (= शक्ति) पर अधिकार बनाया । परन्तु वरुण । ऋषि कहते हैं कि वस्तुतः मित्रावरुण का भी उम स्त्री (शक्ति) पर अधिकार था क्योंकि अर्हतया देवताओं को दी जानी हैं । उन की सम्पत्ति होनी है अतः जादृत्तियों में उत्पन्न वह स्त्री मित्र और वरुण की पुत्री थी । मनुष्य का अस्तित्व प्राणों के साथ ही है । अतः उस की शक्ति प्राणों की भी है ।

२. टिप्पणियाँ—ऊचतु—√वच बोचना+लिट् प्रथम पुल्लिङ्ग द्विवचन । अजीजनत—√जन् उठाना होना+णिच्+तुट् प्रथम पुल्लिङ्ग एक वचन आत्मनेपद । त्वमीपाते—तु+अमी+ईपाते । अमी—द्विवचन । यहा 'अमू' के स्थान पर अदस का पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । ईपाते—√ईप् से लट् प्रथम पुल्लिङ्ग द्विवचन । जहौ—√जा+लिट् प्रथम पुल्लिङ्ग एक वचन । यह 'प्रतिजन्तौ' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मान् निपा, स्वाकार कर निपा । अतित्येयेयाय—अति+तु+एव+इयाय । इयाय—√इ+लिट् प्रथम पुल्लिङ्ग एक वचन । अति का इयाय से सम्बन्ध है । छोड़ कर—अतिङ्गमण् करके चली गई ॥२॥

३. ताँ ह मनुखाच—आमीति । तत्र दुहितेति । यथ भगति मम दुहितेति । या यमूरप्स्वाहुतीरहोषीर् घृत दमि मस्यामिचा, ततो मामजीजनथाः । साऽऽशी-

मिला कर बनाई हुई लसी । अप्सु—अला म प्राणो म । [देखो आपो व प्राणा । शतपथब्राह्मण ३।८।२।४] । जुह्वाचकार—√हु हवन करना दान करना ग्रहण करना—लिट प्रथम पुरुष एक वचन । हवन किया ग्रहण किया । विबुद्धमाना—थी मानियर धितियम्भ ने इस का ग्रथ स्थिर' हठ किया है । ऋग्वेद १०।१०।११ म सायण ने इस का मय सङ्ग करते हुए' किया है । परन्तु यहा पर धारण करते हुए' ग्रथ ही उपयुक्त है । सायण ने यहा पर इस का ग्रन्थ 'पात्रयज्ञात्मिका' अर्थात् 'पाकयज्ञ रूप' किया है । इस ब्राह्मण के आगे के लेख से इस ग्रथ की पुष्टि होती है । अतः इस का सरल ग्रथ शरीरधारी पाकयज्ञ किया जा सकता है । तस्य म तादृश्य म चतुर्गो है । पदे—स्थान म आहूतिया ने । उदेयाय—उद+आ+√इ जाना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन । मित्रावरुणौ—मित्र और वरुण देवता । प्राण अपान या प्राण और उदान को भी मित्रावरुण कहते हैं । सजग्माते—सम्+√गम् जाना+लिट प्रथम पुरुष द्विवचन आत्मनपद । मिल ।

२. ता होचतु—काऽसीति । मनोर्दुहितेति । आपयोर्ब्रूषेति । नेति होराच । य एव मामजीजनत, तस्यैवाऽहमस्मीति । तस्यामपि त्वमीपाते । तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञारतित्वेवेयाय । सा मनुमाजगाम ॥८॥

२ अर्थ—उन [मित्र और वरुण—प्राण और अपान या प्राण और उदान] ने उस [पात्रयज्ञात्मिका स्त्री] से पूछा—[तुम] कौन हो ? [उस स्त्री ने उत्तर दिया] कि [मैं] मनु की पुत्री [हूँ] । ' [मित्रावरुण ने कहा कि ऐसा मत कहो वरन्] यह कहो कि हमारी पुत्री हो] ।

[उस स्त्री ने] उत्तर दिया—नहीं । [यह कहना सम्भव नहीं] । जिस ने ही मुझे उत्पन्न किया है उस की ही मैं [पुत्री] हूँ ।

परन्तु उम [स्त्री] पर भी वे दोनों [मित्र और वरुण] शासन करते हैं (अर्थात्—अविहार रक्षते हैं) । उस [स्त्री] ने इस [तथ्य] को माना अथवा न माना परन्तु यह [यहां से] चली गई । यह मनु के पास पहुंची ॥२॥

॥म सदान का भाव यह है कि प्राण और अपान या प्राण और उदान ने शरीरधारी पाण्ड्यन रूप स्त्री (वर्धन—पोष्टिक पत्नियों के सेवन में उत्पन्न शक्ति) में पूछा कि वह कौन है । उस स्त्री ने कहा कि मुझे मनु ने बटी बटिनीता में [दु दु खेन हिना स्थापिता प्राप्ता इति दुहिता] प्राप्त किया है । इस पर मित्रावरुण (प्राण, अपान) ने उस स्त्री (= शक्ति) पर अधिकार बनाया । परन्तु अर्थ । ऋषि कहते हैं कि वस्तुतः मित्रावरुण का भी उस स्त्री (शक्ति) पर अधिकार था क्योंकि अर्हति या देवताओं को दी जानी हैं । उन की सम्पत्ति होनी है अतः आहुतियों में उत्पन्न वह स्त्री मित्र और वरुण की पुत्री थी । मनुष्य का अस्तित्व प्राणा के साथ ही है । अतः उस की शक्ति प्राणा की भी है ।

२ टिप्पणियाँ—उच्चतु—√वच बोचना + लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन । अनीजनत—√जन् उत्पन्न होना + लिट् + लुप् प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । रमीपाते—तु + रमी + ईषाने । अमी—द्विवचन । यहा 'अमू के स्थान पर अदम' का पुन्यग प्रयोग बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । ईषाते—√ईष से लट् प्रथम पुरुष द्विवचन । जह्नी—√जा + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । यह 'प्रतिजनी के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मान लिया, स्विकार कर लिया । अतिरेकेणाय—अति + तु + एव + श्वाय । इयाय—√इ + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । अति का श्वाय से सम्बन्ध है । छोड़ कर—अतिशयण कर के चली गई ॥२॥

३. ताँ ह मनुष्याच—सासीति । तत्र दुहितेति । यथ भगवति मम दुहितेति । या अमृग्स्वाहुतीरहोपीर् घृत दधि मस्त्वामिक्षा, ततो मामजीजनथाः । साऽऽशी-

रस्मि । ता मा यज्ञेऽनकल्पय । यज्ञे चेद्वे माऽनकल्पयिष्यमि,
 वहुः प्रजया पशुभिर्भविष्यमि । यामु मया काञ्चाऽऽशिष
 माशामिष्यसे, सा ते मर्गा समर्द्धिष्यत इति ।

तामेतन्मध्ये यज्ञस्याऽनकल्पयत् । मध्य एतेद्
 यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान् ॥६॥

३ मनु ने उस [इडा] से पूछा—[तुम] कौन हो ।'
 [इडा ने उत्तर दिया]—[मैं] तुम्हारी पुत्री [हूँ] ।' [मनु ने
 फिर पूछा] 'कि ह्य ऐश्वर्यशालिनी देवि ! [आप] मेरी पत्नी
 कैसे [हैं] ?' [उस इडा ने उत्तर दिया]—[आप ने] जो वे
 घी, दही दही की भलाई और नही के पानी [अथवा] दूध दही
 की घनी हुई लप्सी] की जलों (=अर्थात् प्राणों) में आहुतिया
 दी थीं, उन से मुझे उपन्न किया है । वह [मैं आप की] भलाई
 की कामना [ही] हूँ । उस मुझे [आप] यज्ञ में [अपना] अङ्ग
 (अर्थात्—साथी, पत्नी) बना लें । यदि तिसन्दिग्ध रूप से
 [आप] मुझे यज्ञ में अपना (=साथी, पत्नी) बना लेंगे
 [तो आप] सन्तान और पशुओं से बहुत [सम्पन्न] हो जायेंगे ।
 तिसन्देह मेरे साथ में [आप] जिस किसी दिनकामना की
 चाहना करेंगे वह सब तुम्हें अच्छी प्रकार सिद्ध हो जायगी
 (शब्दार्थ—यव यज्ञ जायगी) ।

इस का भाव यह है कि मुझ अपनी पत्नी बना कर मुझ से काम
 लो । मैं तुम्हारी शक्ति हूँ । ममार मैं सब काम शक्ति से ही सिद्ध होते
 हैं । अतः मेरे से तुम्हारी सब ही इच्छाएँ पूर्ण हो जायेंगी । दूसरी ओर
 विवाह द्वारा ही सन्तान की प्राप्ति होती है । गृहस्थी होने पर ही
 मनुष्य मसार के कामों में भागवत् हो कर अनेक प्रकार के काम करता है
 और यन्त्रण करता है । अतः यह ब्राह्मण इस सुन्दर मन्त्र के द्वारा

मनुष्या को ब्रह्मचर्य आश्रम में गति सङ्गृहीत कर के गृहस्थ में प्रवेश करन विवाह करने सत्तान उत्पन्न करने तथा धन कमान की शिक्षा दे रहा है ।

[मनु ने] [उस की प्रार्थना और आप्रह पर] उस [इडा] को यज्ञ के बीच में अपना अङ्ग बना लिया । नि सन्देह यज्ञ का बीच यही है जो प्राण (प्रयाज) और अपान (अनुयाज) के बीच में है ॥६॥

भाव यह है कि मनु ने उस शक्ति को अपना अङ्ग बना लिया और उस में शक्तिसम्पन्न हो कर वह यज्ञ (= अष्टाङ्ग अष्टाङ्ग्य कर्म) करने लगा । समस्त कर्मों का क्षेत्र प्राण और अपान के बीच में स्थित है । अतः मनु ने उस शक्ति से प्राण और अपान के बीच में स्थित दस कर्मों के क्षेत्र को शक्तिशाली बना दिया ।

ताम् इति

३ टिप्पणियाँ—भगवति-भग ऐश्वर्य को कहते हैं । अतः ऐश्वर्यशालिनी देवी कल्याणी, भाग्यवती । यहा यह सम्बोधन रूप है । अमू = अदम्—शब्द का स्त्रीलिङ्ग द्वितीया बहुवचन । आहुती — आहुति का द्वितीया बहुवचन । मति के समान रूप बना है । अहोपी — $\sqrt{\text{हु}} + \text{लुङ}$ मध्यम पुरुष एक वचन । हवन किया या । दधि मस्तु — दोनों द्वितीया के एक वचन हैं और अहोपी क्रिया के कर्म है तथा 'आहुती' पद का व्याख्यान है । अजीजनथा — $\sqrt{\text{जन्}} + \text{णिच्} + \text{लुङ}$ मध्यम पुरुष एक वचन । आशी — भलाई की कामना । मा — मस्मद का द्वितीया के एक वचन का दूसरा रूप । माचारण रूप 'माम्' होता है । अग्रफलपय — अग्र + $\sqrt{\text{क्लृप्}} + \text{णिच्} + \text{लोट}$ मध्यम पुरुष एक वचन । अङ्ग बनाओ । मया — 'यहा पर सह' का अव्याहार करना चाहिए । मेरे साथ । मेरे साहचर्य में अथवा मुझ से युक्त हो कर । आशासिष्यसे — आ + $\sqrt{\text{शास्}} + \text{णिच्} + \text{लृट}$ मध्यम पुरुष एक वचन ।

ते=तव । तुम्हारी । समर्पिष्यते—सम्+✓रुष् (वङ्ना) (दिवाणि)
 +लट् प्रथम पुरुष एक वचन । इसके रूप—रुध्यति । रुध्यन् । रुध्यतु ।
 आयत (लट्) । आनद्ध (सिट) । अर्घिष्यति । आद्ध त आद्ध तान्,
 आद्ध न् (लुट्) । ईत्सति (भञ्जन्) । अघयति (णिज्जत) और अगित्वा
 वतते हैं । यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग बर्दिव है । इसे कम
 ध्यतिहार का प्रयोग मान कर भी आत्मने पद आया माना जा
 सकता है ।

ताम् प्रयानानुयाजान्

एतत्—यहाँ 'एनाम्' के लिए आया है । उस मन्त्रावरणी
 मानवी पिब्यमाना इडा णी । अत्राकल्पयत्—अव+✓कल्प्+णिच्+
 लट् प्रथम पुरुष एक वचन । प्रयानानुयाजान्—ऐतरेय कौषीतकि
 शतपथदि ब्राह्मणों के मत में—'प्राणा र्वं प्रयाजा' और अपाना
 अनुयाजा' अर्थात् प्रयाज=प्राण और अनुयाज=अपान हैं । मत प्रया
 जानुयाजान् का अर्थ प्राण और अपान है । इस अर्थ की पुष्टि प्राणा
 र्वं प्रयानानुयाजा' (शतपथब्राह्मण १४।१।२।५१)—प्राण ही
 प्रयानानुयाज हैं, तथा 'पयानानुयाजा नै देवा आज्यपा' (शतपथब्राह्मण
 १।४।२।१७ आदि)—धी पीने वाले देवता ही प्रयानानुयाज हैं से भी
 होती है । भाष्यकार सायण ने 'प्रयाजा' का अर्थ इस नाम के मन्त्र
 और 'अनुयाजा' का अर्थ धी की प्राप्ति' रक्खा है । यह अर्थ मध्य
 काल की विद्वत् याज्ञिक मनोवृत्ति की बताता है तथा भाष्यकार के
 ब्राह्मण के मूल भावा के अनवबोध का परिचय देता है । वास्तव में
 यह सम्पूर्ण आर्यायिका काल्पनिक और आलंकारिक है । ब्राह्मण ने
 स्वयं इस भा निर्देश किया है । कुछ आधुनिक वैदिक विद्वान् मध्यकालीन
 शाली के पीढ़े चलते हुए लेख के पूर्वाधि को ले लेते हैं और उत्तराध
 की उपेक्षा कर देते हैं । इस प्रकार वे मनमाने निष्कर्ष निकालने
 रहते हैं ।

४ तयाऽर्चञ्छाम्यञ्चचार प्रजाकाम । तयेमा
प्रजाति प्रजज्ञे, येय मनो प्रजातिर याम्बेनया काञ्चाऽऽशि-
पमाशास्त माऽस्मै सर्ग ममार्द्धयते ॥१०॥

४ सन्तान का इच्छुक [वह मनु] उस [इडा] के साथ
पूजा करता हुआ और कष्ट भेलता हुआ रहने लगा । उस [इडा]
के साथ [उस ने] इस प्रजा को उत्पन्न किया जो वह मनु की
प्रजा [रहलाती है ।] लालसा से [प्रेरित हो] (अथवा उस के
साथ) उस [मनु] ने जिस किसी हितजामना की चाह की वह
सन उने पूर्ण रूप में प्राप्त हो गई ॥१॥

४ प्रजातिम्—प्र+√जन्+क्तिन् । द्वितीया एक वचन ।
प्रजाप्नो को । अनङ्गे—प्र+√जन्+लिप् प्रथम पुरुष एक वचन ।
यहा एङित का भाव अभीष्ट है । वेनया—वना से तृतीया एक
वचन । कामना से लालसा से इच्छा से । 'याम्बेनया' का पदच्छेद
याम् उ एनया' भी किया जा सकता है । एनया—इदम् पद का
स्त्रीलिङ्ग तृतीया एक वचन है । इस पदच्छेद से अथ यन्पि पर्याप्त
स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इस में उत्कट अभिनाया का भाव नष्ट हो
जाता है । बिना उत्कट अभिनाया के मनुष्य कर्मों में अपनी इच्छा
में प्रवृत्त नहीं होता है । अतः 'या वेनया' यही पदच्छेद अच्छा है ।
आशास्त—आ+√शास्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन ।

५. संपा निदानेन यदिटा । स यो हव निद्वानिडा
चरत्येता हव प्रजाति प्रजायते, या मनुः प्राजायत ।
याम्बेनया काञ्चाऽऽशिपमाशास्ते, साऽस्मै सर्ग समृद्धयते ।

५ चिह्नों से [निश्चय किया जा सकता है] कि वह
[स्त्री] यह [ही है ।] जो इडा [पात्र में रखी हुई माममी है ।]

नि सन्देह जो इस प्रकार जानने वाला है और इडा के साथ रहता है वह नि सन्देह उसी सतान को उत्पन्न करता है जिस को मनु ने पैदा किया और उत्कृष्ट इच्छा से (अथवा उस के द्वारा) जिस किसी हितरामना की चाह करता है [उम की] वह सब [हितरामना] सम्पूर्ण रूप से फलती फूलती है ॥ ११ ॥

५ टिप्पणी—निदानेन—पहचान से चित्तो से ॥११॥

भाव यह है कि जो व्यक्ति यज्ञ में आहुति डाल कर अपने स्वयं का त्याग कर दूसरों का उपकार करने की भावना रखता है उस की सब शुभ कामनाएँ पूरा हो जाती हैं । यही भव बसिष्ठ धर्मसूत्र २१।१ के 'दानेन सर्वान् कामान् प्रवाप्नोति'—दान से सब कामनाओं को प्राप्त करता है—में है ।

[शतपथब्राह्मणो १।८।१।७—११]

.५.

शुन शेपाख्यानं

वरुणास्य तितिक्षा

कथा का प्रयोजन और भाषा

१ यह कथा राजसूय यज्ञ से सम्बन्ध रखती है । देखने में इस में मानव की बलि का आभास मिलता है, परन्तु ऐसी बलि यहाँ न दी गई है, न अभीष्ट है । वस्तुन अजीगर्त सोयवसि

स्वार्थपरता का और शुन शेष परोपक्कर लोककल्याण और राष्ट्रहित का द्योतक है। आश्रयान शब्द का अर्थ— आ समतात् समग्रत्वेण वा स्यायते—वर्ण्यते प्रमूयते वा—अर्थात् जो सम यता से—स्पष्टता से वर्णित किया जाय—रक्खा जाय, वह आश्रित है। इस का एक पर्याय 'इतिहास' (इति ह आस— इस प्रकार प्रस्तुत किया है—वर्णित किया ह) है। अत आश्रयान किमी तथ्य को रोचक, कहानी के रूप में वर्णित करने को कहते हैं। देवताओं और सृष्टि में सम्बन्ध के कारण इन्हे पुराकथा भी कहते हैं।

२ इस कथा में वाक्य पूरे पूरे नहीं हैं। बहुत सा भाव अध्याहार द्वारा स्पष्ट और पूर्ण किया जाता है।

शुनःशेषाश्रयाने वरुणस्य तितिज्ञा

शुन शेष के आश्रयान में वरुण की सहनशीलता

१ अर्थनमुनाच वरुण गनानमुपयत्—“पुत्रो मे जायता, तेन त्वा यजा” इति ।

२ अथ—अथ उस [राजा हरिश्चन्द्र] को [नारद ने] कहा—कि राजा वरुण की [शरण में] जाओ [और प्रार्थना कर कहो] कि 'मेरे लड़का हो जाए, उस से तुम्हारे लिए यज्ञ करूंगा।'

१ टिप्पणिया—उपधात्र—उप+धाव् + लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। यना इति—यजै+इति । यजै—यज्+लोट् उत्तम पुरुष एक वचन ।

[हरिश्चन्द्रः] * २. “तथे”ति ।

[हरिश्चन्द्रः] स वरुण राजानमुपममार—‘पुत्रो मे जायता,
तेन त्वा यजा” इति ।

[वरुणः] “तथे”ति ।
तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम । इति ।

[वरुणः] त होमाच—“अजनि वै ते पुत्रः । यजस्व
मानेने”ति ।

अर्थ—[हरिश्चन्द्र] “बहुत अच्छा” [कह कर मान गया] ।

[हरिश्चन्द्र] वह राजा वरुण के पास गया—‘मेरा पुत्र हो
जाए । उस से मैं तुम्हें यज्ञ करूँगा ।’

[वरुणः]—[वरुण ने उस की बात मानते हुए कहा] ‘बहुत अच्छा ।
उम [हरिश्चन्द्र] को एक पुत्र उत्पन्न हुआ [जिस का]
नाम रोहित [था] ।

[वरुणः]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र] को कहा—‘तुम्हें पुत्र
हो गया है । मुझे इस से [अर्थात्—इस को] यज्ञ कर
दो । [अग्नि दे दो ?]”

२ टिप्पणियाँ—उपमसार—उप+√स+लिट प्रथम पुरुष
एक वचन । जज्ञे—√जन्+लिट प्रथम पुरुष एक वचन । अजनि—
√जन्+कमवाच्य+सुड प्रथम पुरुष एक वचन । यजस्व—√यज्+

* इस सम्पादन में मस्कृत और हिन्दी अनुवाद में बाई आर
[]—इन कोष्ठको में कहानी में संवाद की उक्तियों के बक्ताओं के नाम
दिए गए हैं । ये नाम मूलपाठ के अश्व नहीं हैं । सम्पादक द्वारा भाव दो
स्पष्ट करने के अतिशय से जोड़े गए हैं ।

तोद् मध्यम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । मा—अस्मद्+द्वितीया एव
वचन पुल्लिङ्ग ।

[हरिश्चन्द्र] ३ —म होवाच—“यदा वै पशुनिर्दशो भव-
त्यथ म मेध्यो भवति । निर्दशो न्यन्तु । अथ
न्या यजा” इति ।

[वरुण]—“तथे”ति ।

[वरुण]—म ह निर्दश आम् । त होवाच—“निर्दशो-
न्यभूद्, यजाम्य माऽनेने”ति ।

[हरिश्चन्द्र] ३ अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] बोला [अर्थात्—उस ने
उत्तर दिया]—जब पशु दस दिन के उपर का हो
जाता है [शब्दार्थ—दस दिन पार कर लेता है ।]
तब [ही] वह यज्ञ के योग्य होता है । [इस लिए]
इसे दस दिन का हो जाने दो । तब तुम्हारे लिए
यज्ञ करूँगा ।”

[वरुण]—[वरुण ने मानते हुए कहा] ऐसा [ही हो] ।

[वरुण]—वह [रोहित] दस दिन पार कर चुका [अर्थात् दस
दिन का हो गया ।] [उस वरुण] ने उस [राजा
हरिश्चन्द्र] से कहा—नि सन्देह यह दस दिन का हो
गया है । [अब तो] इस से मुझे यज्ञ करो ।”

३, टिप्पणिया—पशु —जो देखता है, या जिसे देखते हैं,
वह पशु कहलाता है । पुरुष, अश्व गाय, भेड़ बकरी—ये पांच पशु हैं ।
यज्ञ=देवपूजा मगतिकरण और दान के योग्य सशक्त और समग्र
प्राणी हो सकता है । अतः हरिश्चन्द्र दस प्रकार कह कर रोहित के
युवक होने तक वरुण को मनाना रहता है, और वरुण भी मानता

रहता है। निर्देश — निष्क्रान्त निगत वा दशम्य दिनेभ्य — दस दिना
 में पार गया हुआ अतः दस दिन की आयु का। इस से पहले अशौच
 का काल भी होता है। मेध्य — $\sqrt{\text{मेघ}} + \text{पृथक्} + \text{पुर्लिङ्ग}$ प्रथमा एक
 वचन। $\sqrt{\text{मेघ}}$ के अर्थ मेघा हिंसा और सगम (मिलन) है। सामान्यतः
 इस के अर्थ पवित्र होने, हिंसा करने योग्य होने हैं। वलि स पूव भी
 है। सगमन — मिलना यन्त्रम् है। आस — $\sqrt{\text{अस्}}$ होना + लिट् लकार
 प्राप्ती को शुद्ध किया जाना प्रथम पुरुष एक वचन। अभूत् — $\sqrt{\text{भू}} + \text{छुड}$
 प्रथम पुरुष एक वचन।

[हरिश्चन्द्रः] ४. स होगाच — “यदा वै परोर्दन्ता जायन्ते-
 ऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य जाय-
 न्ताम्। अथ त्वा यजा” इति।

[वरुणः] “तथे”ति। इति।
 तस्य ह दन्ता जजिरे।

[वरुणः] त होगाच — “अज्ञत वा अस्य दन्ताः। यजस्व
 माऽनेने”ति।

[हरिश्चन्द्रः] ४ अर्थ — उस [हरिश्चन्द्र] ने उत्तर दिया — ‘जब
 पशु के दात निकल आते हैं, तब वह यज्ञ के योग्य
 होता है। इस के दात आ जाए। तब [मैं] तुम को
 यज्ञ करूँगा।’

[वरुणः] — [वरुण ने कहा] — ‘बहुत अच्छा’।
 उस के दात निकल आए।

उस [हरिश्चन्द्र] को [वरुण ने] कहा — ‘इस के दात
 निकल आए हैं। इस [गोहित] से मुझे [अर्थात् मेरे
 लिये] यज्ञ करो।’

४ टिप्पणिया—वै—विचयस्रोतक अन्यत्र है । सामान्यतः वाक्य में इस का अर्थ नहीं किया जाता है । जज्ञिरे—✓जन् + लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन । अज्ञत—✓जन् + लुङ् प्रथम पुरुष बहुवचन ।

[हरिश्चन्द्र] ५ स होवाच—“यदा वै पशोर्दन्ता पयन्ते
ऽथ स मेध्यो भवति । दन्ता न्वस्य पयन्ताम् ।
अथ त्वा यज्ञा” इति ।

[वरुण.] “तथेति” इति ।
तस्य ह दन्ता पेदिरे ।

[वरुण.] त होवाच—“अपत्सत वा अस्य दन्ताः ।
यजस्व माऽनेने”ति ।

[हरिश्चन्द्र.] स होवाच—“यदा वै पशोर्दन्ता पुनर्जा-
यन्तेऽथ स मेध्यो भवति । दन्ता न्वस्य पुनर्जा-
यन्ताम् । अथ त्वा यज्ञा” इति ।

[वरुण:] “तथेति” इति ।
तस्य ह दन्ता पुनर्जनिरे ,

[वरुण:] त होवाच—“अज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ता. यजस्व
माऽनेने”ति ।

[हरिश्चन्द्र]—५ अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] बोला—‘नि सन्देह जब
पशु के [दूध के] दात गिर जाते हैं तब वह यज्ञ के
योग्य होता है । इस के दात गिर जाए । तब [मैं]
तुम को यज्ञ करूंगा ।’

[वरुण] [वरुण मान गया कि] 'बहुत ठीक' ।

उस [रोहित] के [दूध के] दात गिर गए ।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र से फिर] कहा—'इस [रोहित] के दात गिर गए हैं । [अब] इस [रोहित] से मेरे लिए यज्ञ करो ।'

[हरिश्चन्द्र]—उस [हरिश्चन्द्र] ने [फिर उल्लाते हुए] कहा—
नि सन्देह जन्म पशु के दात निकल आते हैं,
तब यह यज्ञ के योग्य होता है । इस के दात फिर
निकल आने दो । तब [मैं] तुम्हें उस [रोहित]
से यज्ञ कर दूंगा ।

[वरुण]—[वरुण मान गया]—'बहुत अच्छा ।

उस [रोहित] के दात फिर निकल आए ।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र] से [फिर] कहा—'इस के
दात फिर निकल आए हैं । [अब] मेरे लिए इस से
यज्ञ करो ।'

५ टिप्पणियाँ—पद्यन्ते—√पद जाना से लट प्रथम पुरुष बहुवचन । इस में अब+√पद का भाव अभिप्रेत है । अब उपसर्ग का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि √पद बिना उपसर्ग के भी 'गिरना' अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ है । पद्यन्ताम्—√पद्+लोट प्रथम पुरुष बहुवचन । पेदिरे—√पट्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन । अपरसत—√पद्+सुट् प्रथम पुरुष बहुवचन ।

[हरिश्चन्द्रः] ६. स होवाच—“यदा वै क्षत्रियः सानाहुको भवति, अथ स मेध्यो भवति । सनाह तु प्राप्नोतु । अथ त्वा यजा” इति ।

[वरुण] “तवेति” । इति ।
स ह सनाह प्रापत् ।

[वरुण,] त होमाच—“सनाह तु प्राप्नोद्, यजस्व
माऽनेने”ति ।

(हरिश्चन्द्रः) ‘स तवे’त्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास—
‘तताय वै मह्यमदाद्वन्त, त्वयाऽहमिमं यजा
इति ।’ इति ।

(रोहितः) स ह “ने”त्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थौ ।
स सप्तमरमरण्ये चचार ॥२॥

[हरिश्चन्द्र]—६ उम [हरिश्चन्द्र] ने [फिर] टलाते हुए । कहा—
‘नि सन्देह जब क्षत्रिय शस्त्रधारी हो जाता है तब
वह यज्ञ के योग्य होता है । [इस बालक को] शस्त्र
[ज्ञान] प्राप्त कर लेने दो । तब [मैं] इस से यज्ञ
कर दूंगा।’

[वरुण]—स्वीकार करते हुए वरुण ने कहा—‘अच्छा’ ।
उम [रोहित] ने शस्त्र [ज्ञान] प्राप्त कर लिया ।

[वरुण]—[वरुण ने अब फिर] उस [हरिश्चन्द्र] को कहा—
निश्चय से [इस रोहित ने अब तो] शस्त्र [ज्ञान]
प्राप्त कर लिया है । [अब] इस से मेरे लिये यज्ञ
करो ।

[हरिश्चन्द्र]—उस [हरिश्चन्द्र] ने [अब आगे टलाने का बहाना
न पा कर] ‘अच्छा यह कह कर पुत्र को बुलाया
[और कहा] ।

[हरिश्चन्द्र]—‘प्रिय [पुत्र] ! इस वरुण ने ही [तुम को] मुझे दिया था । अहो ! इस लिए [मैं] तुम्हारे से इस के लिए यज्ञ करूँगा [अर्थात्—यज्ञ में तुम्हें इस की बलि चढाऊँगा] ।

[रोहित]—वह [रोहित]—‘नहीं’ [ऐसा नहीं हो सकता] यह रह कर धनुष ले कर जगल में भाग गया [शब्दार्थ—चला गया] । वह वर्ष भर जगल में घूमता रहा ।

६ टिप्पणियाँ—सानाहुक —सनडू, वा सनाह प्राप्नु वा धारयितु वा क्षीलमस्यास्ति इति । सम् + √नह् + उक्ज + पुत्तिङ् प्रथमा एक वचन । सस्त्र धारण करने का स्वभाव—नामघ्न्य, अतः शस्त्रज्ञान । प्रापत्—प्र + √प्राप् + चुङ् प्रथम पुरुष एक वचन । प्राप्नोत्—प्र + √प्राप् + लङ् प्रथम पुरुष एक वचन । आप्नन्त्रयामास—प्रा + √मन्त्र + शिच + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । इस रूप में √मन्त्र होना का लिट् सकार का रूप प्रयुक्त किया गया है । ऐसे धातुओं के आगे √हृ और √भू के भी लिट् लकार के रूप प्रयुक्त किये जा सकते हैं । अदात्—√दा + चुङ् प्रथम पुरुष एक वचन । उपात्स्थो—उप + प्रा + √स्था + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । सवत्सरम्—एक वर्ष एक सरल तक । निरन्तर काय धातू रहने के कारण बाल वाचक पद सवत्सर में द्वितीया आई है । चचार—√चर् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन ।

[ऐतरय ब्राह्मणे ३३।७]

[इस से आगे की कथा पहले २. चरैवेति में दी जा चुकी है ।]



तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली

उपनिषद्

१ आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मण काल के क्रियाकाण्ड के आठम्बर से जब लोग ऊब गये तो उस के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया और वह उपनिषदों के रूप में व्यक्त हुई। अतः उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद की रचनाएँ हैं। परन्तु स्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। उपनिषद् वेदों के आध्यात्मिक स्थलों के ही व्याख्यान मात्र हैं। इन का प्रधान विषय ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा उन के सम्बन्ध का विवेचन है। श्री कुमारस्वामी ने तो अपने ग्रन्थ 'A New Approach to the Study of Veda' में उपनिषदों की सहायता से वेद का अर्थ करने का सुझाव दिया है। ये उपनिषद् ही पिछले छह दर्शनों के मूल स्रोत माने जाते हैं।

२ प्रत्येक वेद के उपनिषद् अलग-अलग हैं। इन में से ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय ही है। कुछ उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकों के अंतिम भाग हैं। कुछ स्वतन्त्र भी हैं। वैसे तो आज असंख्य उपनिषद् मिलते हैं परन्तु प्रामाणिक और प्राचीन कुल १२ उपनिषद् हैं—ईश वेद, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य ऐतरेय, कौषीतकि, प्रश्न तैत्तिरीय बृहदारण्यक छांदोग्य और श्वेताश्वतथ। समस्त उपनिषदों को (१) वैदिक (२) आर्ष (३) साम्प्रदायिक और (४) कृत्रिम—इन चार भागों में

बाटा जा सकता है। उपनिषदों की भाषा बड़ी सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। वहाँ क्लिष्टता तो प्रायः नाममात्र को भी नहीं है। उन में ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषों का प्रायः प्रायः अभाव है। वास्तव में भाषा की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा के दृष्टिकोण से अर्वाचीन ही हैं। इन में कुछ गद्य में है कुछ पद्य में और कुछ मिश्रित है। इन का समय ८०० से १००० ई० पू० माना जाता है। परन्तु यह सीमा सर्वसम्मत् नहीं। सम्भवतः उपनिषद् निर्माणकाल बहुत पहले जाता है।

परिचय

३ तैत्तिरीय उपनिषद् कथं यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखता है। यह तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। यह उपनिषद् एक लोकप्रिय कृति है और अपनी उच्च नैतिक शिक्षाओं, अध्यात्मविद्या और पञ्चकोशों के सिद्धांतों के कारण बड़े महत्त्व का है।

सार

४ प्रथम भाग में पांच महायज्ञों की महिमा बताई है। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ और भूतयज्ञ अवश्य करने चाहिए। प्रधान बल तपः, सत्य और स्वाध्याय प्रवचन पर दिया गया है। अंतिम को ही सर्वश्रेष्ठ माना है ॥ [अनुवाक ६]।

५ अथ विद्यार्थी वेद पढ़ चुका। वह ससार में प्रवेश करने के लिये जाना चाहता है। उस का समावर्तन सत्कार होता है। उस समय—विदा के काल में—गुरु अपने प्रिय शिष्य को सासारिक व्यवहार में काम आने वाली मुख्य मुख्य शिक्षाओं का पुनः उपदेश करते हुए कहता है कि सत्य बोलना, धर्म पर चलना स्वाध्याय करना। कुशल और उन्नति का ध्यान रखना। सत्तान की पालना

करना ॥३॥ माता पिता, अर्निथि, आचार्य और विद्वानों की सेवा करना । उन के गुण ग्रहण करना, दोषों की उपेक्षा करना ॥४॥ अष्ट विद्वानों का आदर करना । हर प्रकार में दान करना ॥५॥ नव कर्म के सम्बन्ध में कुछ सदेह हो तो निस्वार्थ, धार्मिक, प्रियवादी विचारशील और कर्त्तव्यपरायण ब्राह्मणों का अनुकरण करना । यही अंतिम उपदेश है । [अनुवाक ११]

महेश्वर

६ यह उपदेश आज भी प्रत्येक विद्यार्थी को मिलना चाहिये । दीक्षा-भाषणों में ऐसे ही उपदेशों की आवश्यकता है । कुछ विश्वविद्यालयों ने दीक्षान्त समारोहों में इसे उपनयन की प्रेरणा और आदेश के रूप में ग्रहण किया भी है ।

७

मूल, अर्थ और टिप्पणियाँ

तपः

ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

अभ्यसश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

मानुष च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
 प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
 प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
 प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
 सत्यमिति सत्यञ्चा रायीतरः ॥
 तप इति तपोनित्य. पौरुशिष्टिः ॥
 स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाकौ मौढल्य ॥
 तद्वि तपस्तद्वि तप. ॥६॥

इति नमोऽनुरारुः ॥६॥

तैत्तिरीयोपनिषद् मे शिक्षा की बल्सी तप

अर्थ—ऋत [शास्त्रादि द्वारा बुद्धि मे निश्चय किया हुआ
 अर्थ अथवा वेदाध्ययन अथवा नियम और अनुशासन—Law
 and order अथवा ईश्वर का ज्ञान] तथा स्वाध्याय (शास्त्रों का
 पढ़ना) और प्रवचन [अध्यापन अथवा वेदपाठ रूप ब्रह्मयज्ञ]
 [ये अनुष्ठान करने योग्य हैं] । सत्यभाषण, शास्त्राध्ययन,
 अध्यापन और वेदपाठ रूप ब्रह्मयज्ञ [करने चाहिये] । तप (क्लेश
 का सहना), शास्त्रों का अव्ययन और अध्यापन [करता रहे] ।
 दर्शद्वयो को वश मे करना, स्वाध्याय और प्रवचन [सदैव करता
 रहे] । मनोनिग्रह और स्वाध्याय तथा प्रवचन [ये सदा करने
 चाहिये] । अग्नि की स्थापना और स्वाध्याय और प्रवचन
 [ये नित्य करने चाहिये] । इवन, शास्त्रों का पढ़ना और उपदेश

[करते रहना चाहिए] । [अतिथिसत्कार] तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन को नियम से करना चाहिए] । मानुषकर्म (विवाह आदि लौकिक व्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [करने योग्य हैं] । प्रजा [उत्पन्न करना] तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये सदा करने चाहिए] । ऋतुमाल में पत्नी से समागम (प्रजन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [कर्तव्य कर्म है] । पौत्रोत्पत्ति (प्रजाति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [नियम से करता रहे] सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा रथीतर का पुत्र सत्यवचा [मानता है] । तप [ही नित्य कर्म है] ऐसा नित्य तपस्वी पुरुष शिष्टि [का मत है] । स्वाध्याय और प्रवचन ही [नित्य कर्म है] ऐसा मुद्गाल के पुत्र नाक का मत है । अतः ये (स्वाध्याय और प्रवचन) ही तप हैं, वे ही तप हैं ।

भाग

इस भाग में वर्णित पाँच महायज्ञोद्धारयन (ऋतम् सत्यम्, तप दम तम स्वाध्याय और प्रवचनम्) देवयज्ञ (आनय अग्नि-होमम् स्वाध्याय और प्रवचनम्) अतिथियज्ञ (अतिथय मानुषम् स्वाध्याय प्रवचनम्) पितृयज्ञ (मानुषम् प्रजा प्रजन प्रजानि स्वाध्याय प्रवचनम्) भूतयज्ञ (तप, दम तम प्रजा प्रजानि स्वाध्याय प्रवचनम्)—का बड़ा महत्त्व माना गया है । प्राचीन प्राचार्यों ने उन पर बड़ा बल दिया है । इन के विशेष वर्णन और महत्त्व के लिए दत्तो दयानन्दकृत पञ्चमहायज्ञविवेक ।

स्वामी न्यानन्द का अनुवाद

इस भाग का स्वामी दयानन्द द्वारा किया गया अनुवाद बड़ा सरल स्पष्ट और स्वाभाविक है । वह नीचे दिया जाता है । ऊपर का अनुवाद गोरक्षपुर के शास्त्रर माध्य के अनुवाद के आधार पर किया गया है ।

ऋत च अग्निहोत्र च० ।—

ह ब्रह्मचारिन् 'तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर। मत्प्रोपदेश करना कभी मत छोड़, सदा मत्प्र बोध पढ़ और पढ़ाया कर। हृष गोत्रादि छोड़, आणायाम, योगाम्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर। अपनी इन्द्रियो को बुरे कामों से हटा अच्छे कामों में बना विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्न करण और आत्मा को अयमाचरण से हटा 'ध्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक [आहवनीय अग्नि और विद्युत् आदि को जान क—सत्याथप्रकाश] विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करना हुआ च० और पढ़ाया कर। (मन्त्रारविधि)

इस भाग का सत्याथप्रकाश व तृतीय समुन्नाम म दिया हुआ प्रथम भी अच्छा है। वहाँ ऋतम् सत्ताम् आदि को त्रिधाविशेषण किया है। जिनासु विद्यार्थी वहाँ से देख लें।

अतिथयश्च प्रजातिश्च च—

अतिथिया की सेवा करने हुए पढ़ें और पढ़ावे। मनुष्य सम्बन्धी व्यवहार को करते हुए पढ़ने पढ़ाते रहे। सत्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जाए। वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते और पढ़ाते जाय। अपने सत्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ने पढ़ाते जाये। (सत्याथ प्रकाश)

सत्यमिति तप —

सत्यवादी होना तप है यह सत्यवचा राशीतर आचार्य का ध्यायाचरण म कष्ट सहना तप है यह तपोनित्य पौरशिष्टि आचार्य का और धर्म म चल के पढ़ना पढ़ाना और सत्यानदेश करना ही तप है यह नाक मोदगल्य आचार्य का मत है और सब आचार्यों के मत म

यही पूर्वोक्त तप है, यही पूर्वोक्त तप है ऐसा तू जान ।'
(मस्कारविधि) ।

टिप्पणिया—ऋत च—तप —

ऋतम्—आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ Law and order —
नियम और अनुसामन करने है । ब्राह्मणों में आए इस के अर्थ अनेकों
अर्थों में उक्त ईश्वर आदेश' यहाँ विशेष उपयोगी है । माप्यकार
सकन न तप का अर्थ 'सामान्य के नान से बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ
किया है । ऋषि दयादा न इस का अर्थ 'सत्य धारण किया है ।
इत्यादि—नियम के साथ निम्नाय भाव से वेदादि सत्यशास्त्रों का
अध्ययन । यह नित्य कर्म है । प्रवचन—उपदेश पढ़ाना । दम —
इन्द्रिया प वग पाता । शम —मन को वश में करना । अग्रतय —
कर्मभर न अग्नियों के कई भेद होते हैं । गृहस्थियों को उन का स्थापन
करना अथवा उन का उपयोग करना आवश्यक है । अग्निरथापन एक
क्रिया का नाम है जिस में नया गृहस्थी घर में यज्ञकुण्ड में अग्नि रख कर
उस अथवा गृहस्थवाले में अशुष्क रखन और उस में हवन करने की
प्रतिज्ञा करना है । अग्निहोत्रम्—आग जला कर मात्र पड़ते हुए
उस में घा अन्न आदि सामग्री डालना हवन कहलाता है । इस से वायु
का गड़ि होना है । रोग दूर होते हैं तथा स्वाध-त्याग की भावना
उपन होती है । अतिथय —जो परम विद्वान् सदाचारी शुभचिन्तक
हो तथा जिस के आने-जान की तिथि न हो अथवा माननीय सम्बन्धी
आदि हो उस अतिथि कहते हैं । अतिथि का मतलब न करना पाप का
कारण होता है । अतिथि ही गृहस्थ के दापो का विवेचन कर सकन हैं ।
अतः व उस शुभ भाग पर चला कर पुण्यवान् बना देन है । मानुषम्—
मनुष्यत्व इद मानुषम् । मनुष्या के कर्म—विवाह आदि । प्रजा—सन्ता
नोत्पत्ति । प्रजन —ऋतुकाल में पत्नी का ससग । स्त्री को हर भाग
दूषित स्नान का आव होता है । इसे ही स्त्री का ऋतुमती जाना कहा है ।

ऐसा होन के ५वें दिन से १५ वें दिन तक के समय को ऋतुकाल कहते हैं । प्रजाति — पाते की उत्पत्ति अर्थात्—पुत्र की योग्य बना कर उसे गृहस्थ क्रम में नियुक्त कर उस को पुत्र की उत्पत्ति के लिये प्ररित करना । सत्यनचा — सत्य वच यस्य स । सत्य नाणी वाता । यहा यह एक ऋषि का नाम है । राधीतर — रधीतरस्य अपत्य पुमान् राधीतर । रधीतर का पुत्र । पोरुशिष्टि — पुरुशिष्टस्य अपत्य पुमान् । पुरुशिष्ट का पुत्र । इस का नाम तपोनित्य है । तपोनित्य का अर्थ—तपसि नित्य — तपोनिष्ठ है । मूदुगल्य — मुदगलस्य अपत्य पुमाद् । मुदगल का पुत्र । इस का नाम नाक (गोकरहिन) है ।

(11) आचार्यानुशासनम्

१. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेयामिनमनुशास्ति ।—
२. सत्य वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
३. आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यग्रच्छेत्सीः ।
४. सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कश-
लान्न प्रमदितव्यम् । भृत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय-
प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् ॥१॥
५. देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भय ।
पितृदेवो भय । आचार्यदेवो भय । अतिथिदेवो भय ।
६. यान्यनवधानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो
इतराणि ।

७. यान्यस्माक सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि ॥२॥
नो इतराणि ।
८. ये के चास्मच्छ्रेयाँ मो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयामनेन
प्रश्नमितव्यम् ।
९. श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् ।
ह्रिया देयम् । भिया देयम् । मग्निदा देयम् ।
- १० अथ यदि ते कर्मविचिकिन्मा ना वृत्तिविचिकिन्मा
ना स्यात् ॥३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः समगिनः । युक्ता
आयुक्ता । अलूना वमकामा म्यु । यथा ते तत्र
वर्तेरन् । तथा तत्र र्तेथाः ॥
- ११ अथाभ्यारयातेषु । ये तत्र ब्राह्मणा समगिन ।
युक्ता आयुक्ता. । अलूना धर्मकामाः म्यु । यथा
ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु र्तेथाः ।
- १२ एष आदेश । एष उपदेश । एषा वेदोपनिषत् ।
एतदनुशामनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चेतदुपा-
स्यम् ॥४॥

॥ इत्येकादशोऽनुशाकः ॥

१ वेन्म् अनुशास्ति—

अर्थ १ वेद को पढा कर (अर्थात् पढाने के पश्चात्)
आचार्य आश्रम में रहने वाले (शिष्य) को उपदेश देता है —

२-३ मन्थ व्ययच्छेत्सी —

अर्थ—२-३, सत्य गोल । धर्म का आचरण कर [स्वाध्याय से प्रमाद न कर [अर्थात् ज्ञानोपार्जन में अग्रित लगे रहो] । आचार्य के लिये प्रिय (अभीष्ट) धन लाकर [अर्थात्-गुरुदक्षिणा दे, यज्ञ से जिदा ले कर विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो तथा] मन्तान परम्परा का छेदन न करो ।

भाव यह है कि सतानोपति के लिए प्रयत्न करो । बगै कि जब तक सतान उपनि कर के उन योग्य नहीं बना देन तब तक तुम पितृकृण सं उन्नय नहीं हो सकन । तथा दक्ष के लिए और जाति के लिए भी सतान उत्प न करन तुम्हारा कर्तव्य है ।

नोट—इस का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—अपनी मामध्य म वात्स आचार्य के लिये अभीष्ट धन दे कर अपनी सतान को दुःख म न डालना । यदि थोड़ी मात्रा हो तो आचार्य का थोड़ा ही धन ला कर देना ।

४ मत्यात् धर्मान् प्रमदितव्यम् ।—

अर्थ—४ सत्य से प्रमाद न करना चाहिये । धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

भाव—सत्य वद और धर्म कर म आदेश दिया था कि झूठ और पधम का परित्याग कर सत्य और धर्म का सवन करो । पुन दूसरे शास्त्र म उनी बात को यहा कहने का अभिप्राय है कि चाहे कितने ही कष्ट और विपत्तियाँ आएँ तुम को सत्य और धर्म गुप्त व्यवहार ही करना चाहिये । उमे कभी न छोड़ना चाहिए । जीवन धन-सम्पत्ति और प्रभुत्व व प्रभाव स असत्य और अधम व्यवहार न करना । तथा चाहे दूसर लोग तुम्हारे साथ छन कपट आदि का प्रयोग करें तो भी तुम उन व प्रति ऋजु ही रहना बगै कि सत्यमव जयत नानतम्

और धमा रक्षति धार्मिकम् । अतः अतः मे सत्य और धम की ही विजय होगी ।

कुशलात् न प्रमदितव्यम्—

अथ—कुशल [आत्मरक्षा में उपयोगी] कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए

भाव—गता म भवगान् वृष्ण कहन ह—योग कमसु कौश-
नम् । इसी कौशल का ओर ऊपर के उपनिषद् वाक्य में निर्देश है । क्या कि
जब तक कम सुप्रकार नहीं किया जायगा यथेष्ट फल नहीं देगा । कम
करन के निचे नान का होना अत्यन्त आवश्यक ह । तभी कौशलपूर्वक
कम कर के मनुष्य कमयोगी बन सकता ह । इस विषय में बत
कहना ह—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेगेभ्य सह ।

अत्रिण्या मृत्यु तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते ॥

जो कम और नान का साथ साथ जानता है वह कम से मृत्यु
का जोतता है और नान न मोक्ष पाना है । इसी वशादेन का यहा वरण
किया ह । अतः जो भा काय किया जाय बहुत साव-विचार कर किया
जाय । इसी भाव को चाणक्य न आत्मान सतत रक्षेद दाररपि धनरपि
म गमया है ।

भूतै न प्रमदितव्यम्—

अर्थ—भूति [अर्थात् पेश्वर्य देने वाले साम्राज्यिक कर्मों]
से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

भाव—मनुष्य का उत्तरोत्तर उत्तति के लिए प्रयत्न करना
चाहिये । जा भी अवसर प्राप्त हो उस का समुचित उपयोग करे । अवसर
को कभी भी हाथ से न छाए । परन्तु सब कुछ सत्य और धमयुक्त हो ।

छत्र, कपट और पापपूर्ण उन्नति का तो निषेध ही है। ऐसी उन्नति भूति नहीं उभूति है और कुफल देती है उस से मदव बचे।

स्याध्याय प्रमदितव्यम्—

अर्थ—स्याध्याय [=वेद के अध्ययन, मनन और निदिध्यामन] और प्रवचन [वेद के अध्ययन, मनन और अनुभूति का प्रचार, व्याख्यान आदि करना] से प्रमाद नहीं करना चाहिये।

भाव—स्याध्याय ने अपनी उन्नति कर के उद्वेग द्वारा हृन्म की उन्नति किया करो।

५-६ देव भव—

अर्थ—५ देवकार्य और पितृकार्यो [अर्थात् देवयज्ञ और पितृयज्ञ] को नहीं छोड़ना चाहिये। तू माता की पूजा कर। पिता की पूजा कर। आचार्य की पूजा कर। अतिथि (अभ्यात) की पूजा (आदर, मत्कार, सेवा आदि) कर।

यानि इतराणि—

अर्थ—६ जो अतिन्ध अर्थान् निन्दारहित सुकर्म हैं उन्हीं का मेधन करना चाहिये। दूसरों का नहीं।

७—यान्यस्माकं उगास्याति—

[गीता में कहा है—‘यद यदाचरति श्रेष्ठस्तन तदेवेतरो जन स यत् प्रमाणं बुद्धे साकस्तदनुवर्तते ॥—सब जो उच्चतम पुरुष का अनुकरण करते हैं और उसे प्रमाण मानते हैं इस मित्रता का पगान में रख कर आचार्य उपदेश देने हैं—]

अर्थ—७ हमारे [=अनुसरणीय हम गुरुजनों के] जो शुभ [अर्थात् सत्य और धर्मयुक्त तथा ऊपर के उपदेश और वेदादि के आदेश के अनुसार प्रमाणित और प्रशंसित] आचरण [कर्म]

हो तुम्हें उन्हीं की उपासना (अर्थात् सेवन, आचरण) करनी चाहिये । [इस आदेश में हीन हमारा अथ कर्मों की उपामना] नहीं [करनी चाहिये ।]

भा०—यदा अपि 'गुरुवाक्य ब्रह्मवाक्यम् अथवा गुरुरेव ब्रह्म' का उल्लेख करता है । मनुष्य प्रगुडि करता है, भ्रम में पड़ता है—इस को मन भूलता । अतः उस के जो शुभ कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करना । अर्थात् काही ।

८ ने के च प्रशसितव्यम्—

[ससार में एक में एक उत्तम जानी भरे पड़े हैं । व्यक्तिविशेष ही सर्वत्र नहीं है । अतः हमारे से भी श्रेष्ठ विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता तुम्हें सनातन में मिलेंगे । यह समझ कर कि हमारे आचार्य से श्रेष्ठ और कोई विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता पृथक् ससार में नहीं है उन अथ विद्वानों की उपासा नहीं करनी चाहिये । कदाचित् वे तुम्हें प्रसन्न हो कर कुछ तान दत्त जिस के नियम तुम यत्न करते हो—इस उद्देश्य से कृपि कहते हैं—]

अर्थ—= जो कोई [आचार्यादि धर्मों से युक्त होने के कारण] हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ [विद्वान्] और ब्रह्म [वेद और परमात्मा] के जानने वाले हों, उन का आसनादि के द्वारा तुम्हें आनासना [यज्ञान] दूर करना पूजा सत्कार और आदर करना चाहिये] ।

९ श्रद्धया सजिदा देयम्—

अर्थ—९—श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये । अपनी शक्ति के अनुसार देना चाहिये । लज्जापूर्वक (अर्थात् विनय से विनम्र हो कर) देना चाहिये । (धर्म के) भय से चाहिये । दयाभाज और मित्रभाज से देना चाहिये ।

भाव—हमारे शास्त्रों में दान की बड़ी महिमा बड़ी गई है। दान समाज को स्थिति के लिये आवश्यक है। भूखे को अन्नमिलन पर, नंगों का वस्त्र मिलने पर तथा ज्ञानार्थी का ज्ञान मिलने पर सारा कष्ट दूर हो जाता है। भूखा पेट भरने के लिये चोगी आदि उत्पन्न करेगा। अज्ञानी अधकार से मतलब हो अनेक प्रकार का अन्न वसूला समाज में उत्पन्न करेगा। अतः दान करना चाहिये परन्तु वह धृष्टाश्रवक बिया जाए। अधृष्टा से दिया हुआ दान तामस होता है। दशो गीता १७।२२।

हमारे शास्त्रों में धृष्टा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद में धृष्टा पर एक पूरा मूक्त है। गीता और महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों ने धृष्टा की महिमा गाई है। कहा है—

‘अधृष्टा परम पाप अधृष्टा पापप्रमोचिनी ।

जहाति पाप अधृष्टावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ॥’

जो दान शक्ति से बाहर दिया जाता है वह कल में तथा अपने हृदय में क्लेश उत्पन्न करता है। घनाभाव में मनुष्य पापवृत्ति में ही जाता है। तथा ‘प्रजातनु मा व्यवच्छेत्सी’ इस उपदेश का अनिर्गम्य हो जाता है जो पाप का कारण बनता है।

विनय श्री भी बड़ी महिमा है—‘विनयाद्याति पातताम् । अविध—विनयग्रहित दान तामस होने के कारण कुफल देता है श्री—धन का कारण होता है।

शास्त्रों में दया और मित्रभाव के उपदेश स्थल-स्थल पर मिलते हैं। दयावान् ही ब्रह्म को जानने का वास्तविक अधिकारी है। यजुर्वेद का उपदेश है कि—‘मित्रस्य चक्षुषा ममीक्षामह’—हम सब का मित्र समझें।

अतः दान उक्त उपदेश के अनुसार ही करना चाहिए।

१०-११ अथ उक्तेषु -

किसी विषय में मदेष्ट होने पर उसे दूर करने का उपाय बनाने हुए आचार्य अनुशासन को समाप्त करते हैं ।

अर्थ—१० यदि तुम्हें कर्म या आचार के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो तो वहाँ जो विचारशील कर्म में नियुक्त [अन्यो द्वारा किसी कर्म में लगाए हुए], आयुक्त [अपनी दृष्टि से कर्मपरायण], अरुह (सरल मति), एव धर्माभिलाषी ब्रह्मप्रेता विद्वान् हों, उस [प्रसंग] में वे जैसा व्यवहार करें वैसा [ही तू भी] करना ।

११ इसी प्रकार जिन पर सशययुक्त दोष आरोपित किए गए हों उन के विषय में वहाँ जो विचारशील कर्म में नियुक्त अथवा आयुक्त [दूसरे से प्रेरित न हो कर स्वतः कर्म में परायण] सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों वे उन में जैसा व्यवहार करें तू भी उन में वैसा ही करना ।

(२ एव उपात्यम्—

अर्थ—१२ यह आदेश [विधि है] । यह उपदेश [है] । यह वेद का रहस्य (उपनिषत्) [है] । [और] यही [आचार्य जी] आज्ञा [है] । इसी प्रकार [तुम्हें] उपासना करनी चाहिए । ऐसा ही यह आचरण करना चाहिए ॥

१-४—टिप्पणियाँ—अनूच्य—अनु+√च+ल्यप् । उपनयन मस्कार के बाद पढ़ा कर । अतेशासिनम्—अतेशासी तम् । इस का दूसरा रूप अतेशासी होता है । अनुशासि—अनु+√शा+लट् प्रथम पुरुष एक वचन । मा प्रमद—मा के योग में लुट् लकार आता है और उस के प्रारम्भिक अ का लोप हो जाता है । अतः प्रमद—प्रानद । प्र+√मद+तुङ् मध्यम पुरुष एक वचन । गोपदेव के मत में

अमदीन और अमादीन रूप भी बनते हैं । आहृत्य—आ+√हृ+ल्प्प । ला कर । प्रजातन्तुम्—सतान की परम्परा । तन्तु—धागा, सूत । यन परम्परा । व्यवच्छेत्सी—वि+अव+√क्षिद+लुङ् मध्यम पुरुष एक वचन । मा के कारण 'अ' का लोप हो गया है । कुशलान्-क्षारोरिक और मानसिक स्वास्थ्य । भाव यह है कि क्षारारिक और मानसिक उत्तति में तत्पर रहना चाहिए । भूत्यै—पचमी के स्थान पर अनुर्थी का प्रयोग ग्राप है । प्रमाद के योग में पचमी आती है । भूति—सामागिक उत्तति, समृद्धि ऐश्वर्य आदि ।

५-७ देवपितृभार्य—देवयज्ञ (अग्निहोत्र और स्वाध्याय तथा प्रवचन) और पितृयन (= सतानोत्पत्ति, स्वाध्याय और प्रवचन) । देखा प्रथम शिक्षा पर टिप्पणियाँ । शेष भाग में देव और पितृकायों की परम आवश्यक और स्थूल माहय की है । मातृदेव—माता देव यस्य स । माता को देवता—पूजनोय मानने वाला । अथवा—मातर दीवप्रति, माता की स्तुति करने वाला या माता को आनन्द, पूर्ण आदि देने वाला । इसी प्रकार पितृदेव आदि शब्द बनते हैं । अनय स्थानि—न+अवस्थानि आवधानि । निन्दारहित । अयद्य—न+√वृ+क्यप् । न कहने योग्य अप्रशंसनीय, निन्दित । नो—'न' के अर्थ में अव्यय है । उपास्यानि—उप+√आस+य+उपुसकविज्ञ प्रथमा एक वचन ।

८ अस्मच्छ्रयास—अस्मत्+श्रयास । अस्मत्—यह अस्मद् शब्द का पचमी का बहुवचन है । प्रश्रसितव्य—प्र+√श्रवस+तव्य । आगम देना चाहिए । यज्ञान दूर करना चाहिए ।

९ श्रद्धा—श्रत+धा । श्रूय का धारण । सत्य भावना से श्रुत सत्य मान कर । भिया—'भो' स तृतीया एक वचन । धमभय स । सप्रिदा—मित्रता के भाव स । मनुष्या को सद्व मित्र का तो

उपकार करना ही चाहिए, पर साथ ही अयो का भी मित्रभाव में ही उपकार करना चाहिए । देयम्—√दा+यत् ।

१०-११ कर्मविचिकित्सा—कर्मणि विचिकित्सा । सप्तमी तत्पुरुष । विचिकित्सा—वि+√क्त्+सन्+आ । सदेह । वृत्त—व्यवहार । समर्शिन—सम्+√मृश+इत् । पुस्तिक प्रथमा बहुवचन । विचारणीय विद्वान्, अनुभवी । युक्ता—√युज्+त् । अपने आप काम में लगे हुए । आयुक्ता—दूसरो द्वारा काम में लगाए हुए । अलूक्षा—अस्का । रघोर ल में भेद नहीं माना जाता है—रलयोर-भेद । जा लगे नहीं अर्थात् मोठा बोलने वाले । अभ्याख्यातेषु—अभि+आ+√व्या+त् । दूसरो द्वारा निंदा किए हुए । बुरे बताए हुए ।

१२ वेदोपनिषत्—वेद का गुप्त ज्ञान—रहस्य । अनुशासनम्—शिक्षा नियम । एवमुपासितव्यम्—यह द्विरक्ति उपदेश की अनिवार्यता और महिमा को बताने के लिए की गई है । ऐसी द्विरक्ति शिक्षा की समाप्ति को भी बताती है ।

इस शिक्षा का ऋषि दयानन्द का सत्यायपरान्त के तृतीय समुक्तान्त में दिया गया अनुवाद भी देखने योग्य है ।

ईशोपनिषद्

उपनिषद्

१ आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मण काल के त्रियाकाण्ड के आइम्बर से जड़ लोग ऊत्र गये तो उस के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया और वह उपनिषद् के रूप में व्यक्त हुई। अतः उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद की रचनाएँ हैं। परन्तु स्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। उपनिषद् वेदों के आध्यात्मिक स्थलों के ही व्याख्यान मात्र हैं। इन का प्रधान विषय ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा इन के सम्बन्ध का विश्लेषण है। श्री कुमार स्वामी ने तो अपने ग्रन्थ *A New Approach to the Study of Veda* में उपनिषदों की सहायता से वेद का अर्थ करने का सुझाव दिया है। ये उपनिषद् ही पिछले छे दशकों के मूल स्रोत माने जाते हैं।

२ प्रत्येक वेद के उपनिषद् अलग अलग हैं। इन में से ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय ही है। कुछ उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकों के अन्तिम भाग हैं। कुछ स्वतन्त्र भी हैं। वैसे तो आज असंख्य उपनिषद् मिलते हैं परन्तु प्रामाणिक और प्राचीन कुल १२ उपनिषद् हैं—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय कोपीतकि, प्रश्न, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छांदोग्य और श्वेताश्वतर। समस्त उपनिषदों को (१) वैदिक (२) आर्ष (३) साम्प्रदायिक और (४) कृत्रिम—इन चार भागों में बांटा जा

सकता है। उपनिषदों की भाषा बड़ी सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। वहा किन्धृष्टता तो प्रायः नाममात्र को भी नहीं है। उन में ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषों का प्रायः प्रायः अभाव है। वास्तव में भाषा की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा के दृष्टिकोण से अर्वाचीन ही हैं। इन में कुछ गद्य में है, कुछ पद्य में और कुछ मिश्रित हैं। इन का समय ८०० से १००० ई० पू० माना जाता है। परन्तु यह सीमा सर्वसम्मत नहीं। सम्भवतः उपनिषद् निर्माण काल बहुत पहले जाता है।

परिचय

३ यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं—शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—माध्यन्दिन और काण्व। दोनों में चालीस चालीस अध्याय हैं। काण्व संहिता का चालीसवा अध्याय ही ईशोपनिषद् कहलाता है। माध्यन्दिन संहिता के चालीसवें अध्याय से इस में अल्प से भेद है।

विस्तार

४ ईशोपनिषद् उपनिषदों में पर्याप्त प्राचीन है और ग्यारह प्रामाणिक उपनिषदों में से एक है। इस में अठारह श्लोक हैं। इन के पहले और इन की समाप्ति पर अन्त में फिर एक ही समान एक शान्तिपाठ भी पढ़ा जाता है—‘पूर्णमद पूर्णमिदम्’ आदि।

विषय

५ इस उपनिषद् में उन्नीसवें रोचक और सरल शैली में ईश्वर, जीव तथा मृष्टिगत मुखों का सक्षिप्त मारभूत प्रेरक और क्रियात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन में कर्म और ज्ञान का यथार्थ और अयथार्थ का समन्वय, आदर्श और

व्यवहार का सुन्दर सम्मिश्रण और क्रियात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है ।

सार

६ यह समस्त ससार ईश्वर द्वारा व्याप्त है । वह जो भोग दे, उन्हे निर्लिप्त भाव से भोगता हुआ मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की कामना करता रहे । आत्मघाती जन अन्धकार से व्याप्त लोको में जाते हैं । गतिहीन और अवेला होने पर भी वह परमात्मा सब की पहुँच से बाहर है । उस में विरोधी गुणों के युग्म भी हैं—वह गतिहीन, और गतिमान्, समीप और दूर में अन्दर और बाहर-मर्वत्र है । वह ईश्वर रोगों और शरीर से हीन, शुक्ल पापहीन, शुद्ध, कवि, मनीषी, सब को वश में करने वाला और स्वयम्भू है । वह व्यवस्था के अनुसार अनन्त काल के लिये अर्थो=पदार्थों का निर्माता है । अविद्या और विद्या सम्भूति और असम्भूति में से किसी भी एक की एका तत्त उपासना अनुचित है । दोनों युग्मों के अगो में साथ साथ समुचित रति चाहिए । तभी मृत्यु से तरण और मोक्ष की प्राप्ति होती है । वस्तुतः सत्य आकषक प्रलोभनों में डका हुआ है । पूपा उस को खोल सकता है । उस की कृपा से उस के कल्याणतम रूप को देखा जा सकता है । मृत देह के जल जाने पर शरीरयात्रा समाप्त हो जाती है और प्राण वायु में मिल जाते हैं । अतः मनुष्य अपने कर्मों का और परमेश्वर का चिन्तन करे । परमेश्वर अग्नि मृत जीव को उत्तम मार्ग से मोक्ष की ओर ले जाए और मानव के पापों को नष्ट कर दे । वह सब कुछ जानने वाला है ।

दर्शन

७ इस प्रकार यह उपनिषद् ईश्वर जीव और जगत् इन तीन तत्त्वों को आधार मान कर चलता है । यह न प्रलय की

कल्पना करता है, न सृष्टि की। मरने के बाद की स्थिति का भी कोई विशेष विस्तार या वर्णन नहीं किया गया है। नैतिक सदाचारी आदर्श जीवन से ही परमात्मा के दर्शन सम्भव हैं। अतः इस उपनिषद् का प्रमुख केन्द्र सदाचार है और इस का दर्शन एकमात्र व्यावहारिक और क्रियात्मक है।

काल

८ इस का काल संहिताकाल से बहुत पीछे का मानना सम्भव नहीं। यह अध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों के युग से पहले ही यजुर्वेद में स्थान पा चुका था। अतः न्यूनतम यह १००० ई० पू० से पहले लिखा गया होगा। इस के रचयिता और उस की जीवनगाथा का कोई परिचय अब उपलब्ध नहीं है।

शान्तिपाठ का भाव

९ शान्तिपाठ उपनिषद् का अंश नहीं है। किसी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व जैसे मंगल किया जाता है वैसे ही उपनिषद् के अध्ययन से पहले शान्तिपाठ किया जाता है। इस शान्तिपाठ में कहा गया है कि परमेश्वर पूर्ण है। उसी में से यह पूर्ण समार निवृत्तता है। परन्तु परमात्मा फिर भी पूर्ण ही रहता है।

मूल अर्थ और टिप्पणियाँ

१०. ईशोपनिषद् का शान्तिपाठ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णान् पूर्णमुदन्व्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—(यद्) वह [परमेश्वर] (पूर्णम्) पूरा है । (इदम्) यह [जगत्] भी (पूर्णम्) पूरा है । (पूर्णात्) पूर्ण [परमात्मा] से (पूर्णम्) पूर्ण [परमात्मा] की [पूर्णम्] पूर्णता को (आदाय) लेकर (पूर्णम्) पूर्ण [जगत्] (उदच्यते) निकलता है । [तो भी यह परमात्मा] (पूर्णम्) पूरा (एव) ही (भवशिष्यते) बचा रहता है । (ॐ) ईश्वर (शान्ति) आग्निभौतिक (शान्ति) आधिदैविक [और] (शांति) आध्यात्मिक दुखों से हमारी रक्षा करे ।

टिप्पणियाँ—अद् —अद्+नपुंसक लिंग प्रथमा एव वचन । सामान्यतः अद् से छु लोके का और इद् से पृथिवीलोक का बोध होता है । अद् ईश्वर का और इद् ब्रह्माण्ड का द्योतक है । उच्यते—उद्+√अच्+कमवाच्य+लट् प्रथम पुरुष एक वचन । अवशिष्यते भव+√णिप्+कमवाच्य+लट् प्रथम पुरुष एक वचन । शान्ति —तीन बार शान्ति का प्रयोग निविध दुख—आग्निभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक के निवारण की कामना का द्योतक है ।

११. ईशोपनिषत्

१ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथां मा गृध्रः कस्य सिद्धनम् ॥१॥

अर्थ—(जगत्याम्) ससार में (यत्) जो (किञ्च) कुछ भी (जगत्) पदार्थजात [है] (इदम् सर्वम्) [यह] यह सब कुछ (ईशा) परमेश्वर से (वास्यम्) व्याप्त है । [अतः] (तेन) उस [परमेश्वर] द्वारा (त्यक्तेन) दिए हुए [पदार्थों स्थितियों आदि] से [भुञ्जीथा] [अपना अपना] भोग प्राप्त करो । (कस्य) अन्य किसी के (स्वित) भी (यत्) धन का (मा गृध्र) लालच मत करो ॥१॥

टिप्पणिया—ईजा—ई से तृतीया एक वचन । वास्य—
 √वस + यत् । इदम्—मर्यम्—इदम्—सवम् । यजुर्वेद में र्, १ और स्
 ने पूर्व म् का गु बोधते हैं और उसे मुद्रण की सुविधा के लिये से
 बोधित करने हैं । जगत्याम्—जगती + सप्तमी एक वचन । जगती—
 √गम् + प्रति । पृथिवी, चर सुष्टि । गतिशाल होने के कारण पृथिवी
 को गो और जगती कहते हैं । जगत्—गच्छति इति जगत् । अथवा
 जगमीति इति जगत् । गति करने वाला चर । यह चराचर जगत् का
 उपलक्षण है । परन्तु ऐसा मानने का अपेक्षा 'सर्वे गत्यर्था प्राप्यर्था ज्ञाना-
 र्थाश्च (मय गमनायक घातघा का पाप्न करना और जानना घय भी
 होत हैं) के अनुसार इसे प्राप्ति और ज्ञानाय मान कर ज्ञान और
 प्राप्त पान घय करना अत्रिक प्रवर्गोचिन है । त्यक्त—√त्यज + क्त ।
 छोड़ ङा दिए हुए । सायन में तृताया है । भुञ्जीथा —√भुज् भोग
 करना + विधि लिङ् मध्यम पुरुष एक वचन । मा गृध —मा के योग
 म शट् तीन लुट् का प्रयोग होता है । अत अगध —√गर + लट्
 मध्यम पुरुष एक वचन ।—स्त्रिन्—अगध है ॥१॥

२ कुर्यन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।

एव त्रयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः ॥

अर्थ—(इह) इस [लोक] में (कर्माणि) कर्म (कुर्वन्)
 करना हुआ (एव) ही (अतम्) सौ (समा) वर्ष तक (जिजीविषेत्)
 जीने की इच्छा करता रहे । (त्रयि) तुम्हारे (एवम्) इस प्रकार
 [आचरण करने पर] (इत) इस [मार्ग से] (अथवा) भिन्न [या
 श्रेयस्कर-उत्तम मार्ग] (न) नहीं (अस्ति) है [और] (नर) मनुष्य
 में (न) [उस के द्वारा उक्त विधि से किए गए] कर्म (न
 लिप्यन्ते) लिप्य नहीं होते हैं ॥२॥

टिप्पणिया—कुर्यन्—√कृ + कृत् + पुल्लिङ् प्रथमा एक वचन ।
 जिजीविषेत्—√जीव् + लृ + विधि लिट् प्रथम पुरुष एक वचन ।

शतम्—शत, सहस्र आदि सख्याएँ सदैव नपुंसक लिंग एक वचन में प्रयुक्त होती हैं। समा—वप। यह पद मदवृत्तोल्लिख्य और बहुवचनात् अमीष्ट है। लिप्यते—√लिप्+कर्मवाच्य लट् प्रथम पुरुष एक वचन ॥२॥

३. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थ—(ते) वे (लोका) प्रदेश [या स्थितिया] (नाम) नि सन्देह (असुर्या) नाशक [अर्थात् दुःखदायी और] (अन्धेन) गहरे (तमसा) अन्धकार से (आवृता) आच्छादित हैं (तान्) उन [लोकों] को (प्रेत्य) मर कर (ते) वे [लोक] (अभिगच्छन्ति) प्राप्त करते हैं, (ये) जो (के) कोई (आत्महन) आत्मघाती (जना) मनुष्य [होते हैं] ॥३॥

भाव—भाव यह है कि आत्महत्या करने वाले जन घोर दुःखमय जीवन वाले जन्म को प्राप्त करते हैं। आत्महत्या शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी।

टिप्पणियाँ—असुर्या—असुर सम्बन्धी। असुर—अस्यति क्षिपति नाशयतीत्यसुर। अतः नाशक, दुःखदायी तत्त्व का दानक है। असुर्या को विशेषण न ले कर लोको का नाम भी माना जा सकता है। आगे आने वाले नाम अव्यय से यह अर्थ सुविधा से प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस अर्थ का कोई औचित्य न होने से वह त्याज्य ही है। कुछ लोग 'असुर्या' पढ़ते हैं (संस्कृत टोका देखें)। वहाँ 'मूय' के प्रमास से रहित अर्थ होगा। तमसा—तमस+तृतीया एक वचन नपुंसकलिंग। आवृत्त—आ+√वृ+क्त। प्रेत्य—प्र+√इ+ल्यप्। आत्महन—आत्मान ध्वन्ति ते आत्महन ॥३॥

ईशोपनिषद्]

४. अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्वाप्तो ऽ न्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिष्वा दधाति ॥

अर्थ—[बह] (एकम्) एक [नामक अथवा अकेला ब्रह्म]
(अनेज्ज) गतिहीन होता हुआ [भी] (मनस) मन से [भी] (जवीय)
वेगशाली (है) । (देवा) इन्द्रिया [आदि देव] (एनत्) इस [ब्रह्म]
को (न आप्नुवन्) प्राप्त नहीं कर सकते हैं [क्यों कि यह तो]
(पूर्वम्) पहले ही (अपत्) [बह] पहुँचा हुआ है । (तिष्ठत्) स्थिर
[रहता हुआ] (तत्) वह तत् नामक ईश्वर [पावन] दौड़ते हुए
(अन्यत्) दूसरों का (अत्येति) अतिव्रमण कर जाता है । (मातरिष्वा)
वायु (तस्मिन्) उस परमात्मा में (अप) [प्राणिया के] कर्मों को
(दधाति) धारण करता है ॥४॥

टिप्पणिया—अनेजत्—न एजन् नञ् तत्पुंस्व ममान् ।
एजत्—√एज+शतृ नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन । एकम्—मन्त्री
म परमात्मा या ब्रह्म को एज तद् एक आदि कहा है । अत आत्मान्
के समान यह भी परमात्मा का नाम है । इस को एज अकेला अथ
म भी लिया जा सकता है । जवीय—जव+ईशुर्व+नपुंसक लिंग
प्रथमा एक वचन । एनत्—इदम् से नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन
का वक्तव्यिक रूप है । यह ब्रह्म—परमात्मा का वाचक मन्त्रनाम है ।
देवा—इन्द्रिया । ये दो प्रकार की हानो हैं—कर्मेन्द्रिया और ज्ञानेन्द्रिया ।
मनुष्य इन्द्रिया के माध्यम से क्रीडा व्यवहार आदि का सम्पादन करता
है चमकता है और मुदित होता है, अत इहे 'दिव' कहा गया है ।
यह पद √दिव से बनता है जिस के १—क्रीडा २—विजिगीषा ३—
व्यवहार, ४—द्युति ५—स्तुति, ६—मोद ७—मद, ८—म्वज्ज
९—वाप्ति और १०—गति—ये दस अर्थ होते हैं । इन अर्थों से सबद
सभी पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं । आप्नुवन्—√आप्+लट्
प्रथम पुरुष बहु वचन । बहिव भाषा में क्रिया के रूपा में जान का

भेद प्राप्त उचित नहीं होना है और भूत काल के रूप सभी काल—
वर्तमान और भविष्य को भी चोखित करते हैं। अतः वही बहुधा
भूतकाल के रूपों का वर्तमान काल में अथ किया जाता है। अर्पित—
✓रूप में नङ् प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है। लौकिक रूप प्राप्त
होता है। तन्—तदेक नामक ब्रह्म, जिसे प्रथम पाद में 'एकम्' कहा
गया है। याचित—✓धाव् + चतृ + पुल्लिङ् द्वितीया बहुवचन। अप—
अपस (कर्म) में नपुंसक लिङ् द्वितीया एक वचन। मातरिशठा—
मातरि शक्ताने श्वसिति इति। वायु। वायु गति का मुख्य है—वाति
गच्छति इति वायु। कर्म गति में ही किए जा सकते हैं। ईश्वर सब
व्यापक है। अतः वायु परमात्मा में ही पाणियों से कर्म करता
रहता है ॥ ४ ॥

५ तदेजति तन्नैजति तदूरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य मरस्य तदु मरस्यास्य बाह्यतः ॥

अर्थ—(तत्) वह तत् [नामक परमात्मा] (एजति) गति
करता है। (तत्) वह तत् (न एजति) गति नहीं करता है। (तत्)
वह तत् (दूरे) दूर [है], (तत्) वह तत् (उ) नि सन्देह (अनिके)
समीप [है]। (तत्) वह तत् (अस्य) इस (मरस्य) सन कुछ के
(अन्त) अन्दर है। (उ) निश्चय ही (तत्) वह तत् (अस्य) इस
(मरस्य) सन कुछ के (बाह्यतः) बाहर [भी] है ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—भार—उम म न में परमात्मा में सब प्रकार
की गतिओं और स्थितियों का सत्ता को उम में विरोधी गुणों को सत्ता
वता कर हृदयगम कराया है। वस्तुतः यह प्रथम श्लोक के 'ईशा
वास्यमिदं सञ्च यत्किञ्च जगत्या जगत्' का ही अनुवाद या व्याख्यान
है। उ—निश्चयशून्य अर्थ है। गच्छति—वहिवत् बाह्य, उस से
स्वायं म तसित प्रत्यय ॥५॥

६ यस्तु सर्वाणि भूतान्य् आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्गभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

अर्थ—(य) जो (तु) तो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों [और पदार्थों आदि] को (आत्मनि) परमात्मा में [या अपने आप में] [भित्त] (अनुपश्यति) देखता है—समझता है, (च) और (आत्मानम्) परमात्मा [या—अपने आप को] (सर्गभूतेषु) सब प्राणियों में [व्याप्त अनुभव करता है] [नहीं] (तत) इस [दर्शन—अनुभव] के कारण (न विजुगुप्सते) [किसी में] घृणा नहीं करता है ॥६॥

भाव—सब परमात्मा ही परमात्मा का अनुभव करने वाला जब हमारे घृणित स्वप्न का अनुभव ही नहीं करेगा, सब कुछ को परमात्मा की ही विभूति के रूप में देखेगा तो उन अरुचि और घृणा हो ही नहीं सकती । इस तथ्य को बृहदाग्न्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य—
मनो न सत्त्वं न च सत्त्वं सत्त्वं और मुदर रूप में प्रस्तुत किया गया है—

यत् हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतर जिघ्रति तद इतर इतर पश्यति तद इतर इतर शृणोति तद इतर दनश्च अन्विदति तद इतर इतर मनूते तद इतर इतर जानाति । यत् वा अस्य सर्वम् आत्मवाभूत तत् केन च जिघ्रेत् तत् केन च पश्येत् तत् केन च शृणुयात् तत् केन च अन्विदत् तत् केन च मन्वात् तत् केन च विजानीयात् ।
[१४।१४] ॥८॥

टिप्पणिया—विजुगुप्सते—बद में भ्रमण वाक्यों में उपसर्ग त्रिधा में अलग रहता है और गौणवाक्य में त्रिधा से मिला हुआ समस्त रहता है । जुगुप्सते—√जुप्+मन्+तट प्रथम पुरुष एक वचन । वि पूषन् यह रूप निन्दा घृणा और अरुचि को व्यक्त करता है ॥६॥

७. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्य् आत्मैनाभूद् विज्ञानतः ।

तत्र को मोहः, कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस [समय] (विज्ञानतः) ज्ञानमान के लिए (आत्मा) आत्मा (एव) ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी [और पदार्थ आदि] (अभूत) हो जाती है, (तत्र) वहां [—उस समय या अवस्था में] (एकत्वम्) [सत्र में] एकता को (अनुपश्यतः) समझने वाले को (क) क्या (मोह) मोह [और] (क) क्या (शोक) शोक [रह जाता है ? अर्थात् वह मोह और शोक से मुक्त हो जाता है ।] ॥७॥

टिप्पणिया—सर्वाणि—अभूत् क्रिया एव वचन न है अतः इस वाक्य में 'आत्मा' उद्देश्य है और सर्वाणि भूतानि विधेय । यदि हम के विपरीत योजना की जायगी तो निम्न विधेयानुसारिणी हो जायगी । भूतानि—√भू+क्त+नपु सक लिंग प्रथमा बहुवचन । सत्तावान् पदार्थ । अतः 'प्राणी और पदार्थ आदि' । अभूत्—√भू+लुट प्रथम पुरुष एक वचन । विज्ञानतः—वि+√ज्ञा+शतृ+पठ्ठी बहुवचन । यहाँ सम्बन्ध में पठ्ठी नहीं है शेष में पठ्ठी है । यदि ऐसा न मान तो पिछले श्लोक सख्या ६ से विरोध उत्पन्न हो जाता है । को मोह—जसा पहले श्लोक ६ की टिप्पणी में लिखा गया है मोह और शोक तब ही हो सकते हैं जब मनुष्य अयो को आत्मा—(=परमात्मा से भिन्न मानता है । जब वह सब को परमात्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब मान लेता है और अपने आप को भी उसी का प्रतिबिम्ब समझ लेता है तब वह एक रस, एक रूप और एक काल में स्थित हो जाता है रसभेद, रूपभेद और कालभेद नष्ट हो जाने से मोह, शोक और दुःख अपने आप तिरोहित हो जाते हैं । एस्त्वम्—एकस्य भाव एकत्वम् । एक परमात्मा का नाम है, अतः एकता-परमात्मा-भाव-परमात्मा से तादात्म्य । अनुपश्यत—अनु+√दृश्+शतृ+पूर्तिग पठ्ठी एक वचन ॥७॥

८. स पयगाच्छुक्कमन्नायमब्रणम-

स्नानिर् शुद्धमपापविद्धम् ।

कर्मिर्मनीषी परिभू स्वयभूर्याया-

तव्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः ॥८॥

अथ--(म) वह [परमात्मा] (पर अगान्) सत्र ओर गया हुआ [=व्याप्त] है । [१६] (गुन्म) शीघ्रकारी [सर्वशक्तिमान्, अथवा दीप्तिमान्], (अकायम्) शरीर-रहित, (अब्रणम्) अक्षत (अस्नानिर्) स्नानयुक्तों से रहित, (शुद्धम्) निर्मल--परित्र और (मपापविद्धम्) निष्पाप [है] । (कवि) कान्तद्रष्टा [अथवा सद्यद्रष्टा या सवत्त] (मनीषी) मन्त्र (परिभू) सब को वश में करने वाला [अथवा--सर्वोत्कृष्ट] [और] (स्वयभू) स्वय ही सत्तावान् [जम परमात्मा न ही] (शाश्वतीभ्य) सनातन--अनादिस्वरूप (समाभ्य) वषा [या प्रजामो] के लिए (यथातथ्यत) यथावत् रूप से [अपन-अपने स्वरूप के अनुत्प] (अर्थान्) पदार्थों को (व्यदधान्) विविध रूप में बनाया है ॥८॥

टिप्पणियाँ--अगान्--√इ छुट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन । शुक्म--दम की व्युत्पत्ति आगुक्कम्--शीघ्र करने वाला दी गई है । दयानन्द सरस्वती ने इस का भाव 'सर्वशक्तिमान्' लिया है । शोक और बह दोनों में यह दीप्ति और प्रकाश का भी बावक है । अकायम्--न काय विद्यते यस्य तन् । शरीर तीन प्रकार का हाता है--स्थूल सूक्ष्म और कारण । इन तीनों ही प्रकारों का यहाँ निषेध किया गया है । अब्रणम्--न विद्यते ब्रण यस्य तन् । जन्मा आदि स होत, अर्थान् तीरोग । दयानन्द सरस्वती ने ब्रण का अर्थ 'छिद्र' किया है । अस्नानिर्--न स्नावा विद्यन्ते यस्मिन् तन् । स्नाव--शिराए, नाडी आदि के सम्बन्ध रूप वचन (दयानन्द सरस्वती) । शुद्धम्--√धुघ+

वन अविद्या आदि दोषों से रहित, सदा पवित्र । अपापविद्धम्—न पापेन विद्धम् । पाप से हर प्रकार से अममृक्त और असृष्ट । अयान कभी भी न पापयुक्त है, न पाप करता है न पापप्रिय है । विद्ध— $\sqrt{\text{व्यष्}} + \text{वन}$ । कप्ति—(शकर)—मवदृष्टा (दयानन्द)—मवज्ञ । दोना का भाव एक ही है । मनीषी—मनस इषिता । सब जोदा व मन की वृत्तियों को जानने वाला (दयानन्द सरस्वती) सबज्ञ (शङ्कराचार्य) । परिभू—परि भवति इति । १ मव के ऊपर—मवौत्कृष्ट (शकर) २ दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला (दयानन्द) । स्वयम्भू—स्वय भवति इति । अनादि स्वरूप—जिस का संयोग न उत्पत्ति, वियोग से विनाश, माता—पिता गभवाम ज म वृद्धि और मरण नहीं होत वह परमात्मा, (दयानन्द सरस्वती) । यथातथ्यत—यथा च तथा च यथातथा, तयो भाव याथातथ्यम् तस्माद याथातथ्यत । जो अने हे (उहे) उस प्रकार । शकर के मत में—यथाभूत कम फल और साधन के अनुसार । अर्थान्—सृष्टिगत पदार्थ । अदधान्— $\sqrt{\text{धा}} + \text{लुङ्}$, प्रथम पुरुष एक वचन । शाश्वतीभ्य—शश्वत—अनादि स्वरूप से अपने—अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश रहित नित्य । समाभ्य—यह पद 'अप' का पर्याय है । अतः काल का द्योतक है—अनादि और अनन्त काल में होने वाले पदार्थों का निर्माता परमात्मा ही है । स्वामी शङ्कराचार्य ने 'सर्वज्ञराज्यप्रजापति' अथ कर के इसी भाव को अप्रत्यक्ष रूप में इंगित किया है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे प्रजा वाचक माना है । ॥८॥

६. अन्ध तम. प्र विशन्ति ये ऽभिद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ निद्याया रताः ॥

अर्थ—(ये) जो (अविद्याम्) अविद्या की (उपासन) उपासना करते हैं, [वे] (अपम्) घोर (तम) अधकार में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं । (उ) नि सन्देह (ये) जो (विद्यायाम्) विद्या में

(रता) मग्न हैं (ते) वे (इव) मानो (तत) उस से भी (भूय) अधिक (तम) अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] ॥६॥

टिप्पणिया—अन्ध तम—यह अंधकार ज्ञान दृष्टि का प्राच्यादक अज्ञान रूपी अंधकार अथवा कष्ट और भावागमन के चक्र में फँसता है। अविद्या—न विद्या अविद्या। यह विद्या तो नहीं है, परन्तु विद्या के सदृश उस की जाति जमी है। जैसे अद्याह्ण राहण तो नहीं होता परन्तु उस का समान अनुप्य जाति का होता है। यह अविद्या और विद्या क्या हैं ? इस में विद्वाना का मतभेद है। स्वामी राजराजाय इहे क्रमशः कम और दबनामान का वाचक मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में अविद्या 'अतित्य म निय, प्रभुद्वय म पुत्र वृत्त में सुख और अनात्मा गरीरादि में आत्मबुद्धि रूप अर्थात्—गानादि गणरहित कारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु है और विद्या 'शब्द, अर्थ और इन के सम्बन्ध के जानने मान अत्रदिक् प्राचरण है। उपासते—उप + √आम् + लट् प्रथम पुंस्य बहुवचन। भूय—बहु + ईयमुन् + ३पु मक् लिङ् द्वितया एक वचना। यह तम का विग्रहण है। रता—√ग्म्—क्व + पुल्लिङ् प्रथमा बहुवचन ॥६॥

१०. अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यादाहुरविद्या ।

इति शुश्रुम धीराणाम् ये नस्तद् विचक्षन्तिरे ॥

अर्थ—[आचार्य] (विद्यया) विद्या से (अयत्) और (एव) ही [फल या कार्य] (आहु) बताते हैं, [और] (अविद्यया) अविद्या से (अयत्) आर [अर्थात् दूसरा ही फल या कार्य] (आहु) बताते हैं (इति) यह (धीराणाम्) [वन] विद्वानों से (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (तत) इस [विषय] को (न) हमें (विचक्षन्तिरे) बताते आए हैं ॥१०॥

टिप्पणिया—आहु—√आ से लट् प्रथम पुंस्य बहुवचन का वचस्विक रूप है। पठते पाच—प्रथम पुरुष के तीन और मध्यम पुरुष के

पहले दो वचनों में लिट् लकार के प्रत्यय लगते हैं और व्रू को आह हो जाता है। शुभ्रुम्—√श्रु से लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन। धीर-धियम् ईरयति इति धीर—बुद्धियों के प्रेरक विद्वान् अध्यापक और उपदेसक। कालिदास ने लिखा है—'विकारहृती सति विक्रियन्त यथा न चेतासि स एव धीरा अर्थात् निर्विकारचित्त ज्ञानी—रागद्वेष आदि से रहित यथाय वक्ता। विचचत्तिरे—वि+√चक्ष्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन ॥ १० ॥

११ विद्या चाविद्या च यस्तद् वेदोभय सह ।

अविद्या मृत्यु तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते ॥

अर्थ—(य) जो (विद्याम्) विद्या (च) और (अविद्याम्) अविद्या (तत्) इस (उभयम्) जोड़े को (सह) साथ—युगपत् (वेद) जानता है, [वह] (अविद्या) अविद्या से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर (विद्या) विद्या से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

टिप्पणि—वेद—√विद्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन का वक्तृत्व रूप। तत्—दयानन्द सरस्वती इसे विद्या और अविद्या के युग्म का द्योतक न मान कर पृथक् लेते हुए इस का अर्थ 'व्यानगम्य मम' करते हैं। उभयम् से वे एक विद्या और अविद्या के युग्म का और दूसरे इस तत्—व्यानगम्य मम का भाव लेते प्रतीत होते हैं। अविद्या—(दयानन्द)—शरीरादि अङ्ग पदार्थसमूह से किए पुरुषार्थ से, (शंकर)—अग्निहोत्रादि कर्म से। मृत्युम्—(दयानन्द)—मरणदुःख का भय, (शंकर)—स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान। तीर्त्वा—√वृ+लृ+क्वा। विद्या—(दयानन्द)—आत्मा और शुद्ध अतःकरण के मयाग रूप धर्म से उत्पन्न हुए यथाय दशनरूप विद्या से। अमृतम्—(दयानन्द)—नाशरहित अपना स्वरूप या परमात्मा, (शंकर)—दवय भाव। अश्नुते—√अश्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन ॥ ११ ॥

१२ अन्य तमः प्र विशन्ति येऽसम्भृतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भृत्या रता ॥

अर्थ—(य) जो (सम्भृतिम्) असम्भृति की (उपासने) उपासना करते हैं [वे] (अथम्) धीर (तम) अन्धकार में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं । (उ) नि मन्देह (य) जो (सम्भृत्याम्) सम्भृति में (रता) मग्न हैं (ते) वे (इव) मानो (तत) उस से [भी] (भूय) अधिक (तम) अन्धकार में [प्रविष्ट होने हैं] ॥१२॥

टिप्पणिया—असम्भृति—(दयानन्द)—अनादि अनुत्पन्न स्वरूप और तमोगुणमय प्रकृत रूप जड़ वस्तु (गकर)—कारण हृति अथवा कामना और कम की बीज अव्याकृत नाम की अनातात्मिका अविद्या । सम्भृति—(दयानन्द)—महत् तत्त्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि (गकर)—हिरण्यगर्भ नामक कायजहा ॥१२॥

१३ अन्यदेवाहुः सम्भवाद् अन्यदाहुरममयात् ।

उति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

अर्थ—[आचार्य] (सम्भवात्) सम्भव से (अयम्) और (एव) ही [फल या कार्य] (आहु) बताते हैं [और] (सम्भवात्) असम्भव से (अयम्) और [अर्थात् दूसरा ही फल या कार्य] (आहु) बताते हैं (इति) यह (धीराणाम्) [उन] विद्वानों से (शुश्रुम) सुनते हैं, (य) जो (नत) इस [विषय] को (न) हमें (विचचक्षिरे) बताते आए हैं ॥१३॥

टिप्पणिया—सम्भव—(दयानन्द)—मयों जड़ काय (गकर) काय ब्रह्म । असम्भव—(दयानन्द) उत्पन्न न होने वाला कारण ॥१३॥

१४. सम्भूतिं च विनाश च यस्तद्वेदोभय सह ।

विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

अर्थ—(य) जो (सम्भूतिम्) सम्भूति (च) और (विनाशम्) विनाश (तत्) इन (उभयम्) दोनों को (सह) साथ (वेद) जानता है [१६] (विनाशेन) विनाश से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर के (सम्भूत्या) सम्भूति से (अमृतम्) अमरत्व को (अश्नुते) प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

शांकर भाष्य का भाव—स्वामी शंकराचार्य ने विनाश का भाव काय ब्रह्म और अमृत का प्रकृतिलयरूप अमरत्व लिया है और मृत्यु को 'अधम और कामना आदि दोषों से उत्पन्न अनश्वय सम्भूति को असम्भूति—अव्यक्तोपासना माना है। स्वामी शंकराचार्य का यह मत विचारणीय ही है, क्या कि मूल मन्त्र न सम्भूति और विनाश का प्रयोग कर विनाश को असम्भूति का पर्याय माना है। आचार्य यहाँ ध्यात्वात् में पूर्वोपपन्न का व्यत्यय कर गए मालूम पड़ते हैं।

दयानन्दभाष्य का अनुराद—स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य कुछ भिन्न और वैशिष्ट्यपूर्ण है। वह इस प्रकार है—

'हे मनुष्यों' (य) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते उस काय रूप सृष्टि (च) और उस के गुण, कम स्वभावों को तथा (विनाशम्) जिस में पदार्थ नष्ट होते उस कारण रूप जगत् (च) और उस के गुण कम स्वभावों को (सह) एक साथ (उभयम्) दोनों (तन्) उन काय और कारण स्वरूपों को (वेद) जानता है वह विद्वान् (विनाशेन) नित्य स्वरूप जान हुए कारण के माय (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख से (तीर्त्वा) पार हो कर (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न हुई काय रूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

इमं अनुवादं मं दयानन्द ने सम्भूति का 'काय रूप सृष्टि' विनाश ता 'कारणभ्य जगत् और अमृत का मोक्ष सुख' अत्र लिया है ॥१४॥

१५ हिरण्ययेन पात्रेण सत्यम्यापिहितं मुखम् ।

तत्र पूषन्नपात्रेण सत्यवर्माय दृष्टये ॥

अर्थ—(सत्यम्) सत्य या या परमात्मा के ज्ञान का (मुखम्) मुख [= मुखम्] (हिरण्ययेन) [तीव्र] प्रकाश के (पात्रेण) अत्रण से (अपिहितम्) ढका हुआ [—छिपा हुआ] है । हे (पूषन्) पोषक [परमात्मन्], (त्वम्) तुम (तत्) उस [आत्रण] ॥ (सत्यवर्माय) अर्थात् स्वरूप को (दृष्टये) देखने के लिए (अपात्रेण) ढका दो [—गोले में] ॥१५॥

टिप्पणियाँ—हिरण्ययेन—हिरण्यस्य विकार हिरण्यन निर्मित वा हिरण्य + मयट । हिरण्य क ता अत्र दृ—१ मोना और २ तत्र ज्योति प्रकाश । मोना भी तेज प्रधान होना है । मात्र यह है कि सत्य के अग्ने बुद्धिमान बाना असत्य वस्तुओं और प्रतीमना का पदा पडा हुआ है अतः उस देखना सम्भव नहीं । पात्रेण—√पा + ण्त् या त्र । रक्षा कर्म या पीन का साधन । अतः आच्छादन, टपकन परदा । सत्यस्य—(शब्द)— आन्ति मण्डलम् ब्रह्म (दयानन्द)—प्रवितागा यथाय कारण । अमृत महा ब्रह्म का वर्गन प्रस्तुत है जो ममस्त मृष्टि का यथाय कारण और सब व व्यापक है । परन्तु मानव उस के स्वरूप का साक्षात्कार करने में सामगारित प्रतीमना के कारण असमर्थ रहता है । अपिहित—अपि + √पा + क्त । अत्र बार अपि के 'प्र' का लाप हो कर 'पिहित' रूप भी मिलना है । पिधान और अपिधान भी इसी धानु से लुप्त प्रत्ययात हैं । मुखम्—पात्र के रूप में कल्पना वर्गन पर इस का अभिषेय अथ संगत हो जायगा । इस का लाक्षणिक रूप—स्वरूप सीधा और स्पष्ट अथ द दना है । पूषन्—पूषन् से सम्बोधन

एक वचन । पूषन् को ऋग्वेद में सूय का एक रूप माना जाता है, जिस के मूल में सूय की पोषण शक्ति है । आधिभौतिक अर्थ में तो यह ठीक है परन्तु आध्यात्मिक अर्थ में यह परमात्मा के पोषक स्वरूप का द्योतक है । घगले मात्र का भी यहाँ संकेत है । प्रकरण भी परमात्मा के वरुण का है, सूय का नहीं । सत्य ज्ञान करा कर ईश्वर मनुष्य को शक्ति—पुष्टि देता है । अपावृणु—अप+आ+√वृ+लोट मध्यम पुरुष एक वचन । सत्यधर्माय—सत्यवर्चासौ धर्मश्च तस्मै । परमात्मा का यथाऽस्वरूप । दाकर भाष्य ने इसे 'सत्यवर्गा उपासक' का द्योतक मंता है—सत्य धर्म यस्य स । यह भाव भी उपयुक्त है । ऋण्वसहितात् अन्ति स्वर के अनुसार यह बहुव्रीहि समास है । इस स्वर के अभाव में पहला अर्थ अधिक ठीक जान पड़ता है । अनुवाद में उस ही अपनाया गया है ॥१५॥

१६ पूषन्नेरूपं यम सूर्यं प्राजापत्यं वृषह रश्मीन् समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।

योऽसायमौ पुरुषः ॥ सोऽहमस्मि ॥१६॥

अर्थ—(पूषन्) हे पोषक (एरूपं) एक मात्र ऋषि, [या अग्नि के समान तेजस्वी] (यम) [सूर्य के] नियन्ता (सूर्य) उपासक [और प्ररक] (प्राजापत्य) प्रजा के स्वामी [परमात्मन्] (रश्मीन्) [अपनी वरुण प्रलोकन रूपी] किरणों [के प्रकाश] को (वृषह) दृष्टा लो, (समूह) [और उन्हें] समेट लो । (ते) तुम्हारा (यत्) जो (तेज) प्रकाश और (कल्याणतमम्) परम कल्याण करने वाला (रूपम्) स्वरूप [है], (ते) तुम्हारे (तत्) उस [स्वरूप] को (पश्यामि) देखना [चाहता] हूँ । (य) जो (असौ) वह (अयो) वह (पुंस्) पुरुष [है] [अथवा, (असौ) प्राण (असौ) प्राण में (य) जो (पुंस्) पुरुष [है] (स) वह (अहम्) परमात्मा [ही] (अस्मि) हैं ॥१६॥

टिप्पणिया—एकै—काण्व संहिता में ‘एक ऋषे’ पाठ है ।

अथवा (८।६।४१) में इन्द्र को एक ऋषि और ईशान कहा है—‘अपिहि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा । इन्द्र चोष्ण्यसे वसु ॥’

एकपि प्रश्नोपनिषद् (२।११) में विश्व का सत्पति वात्य प्राण और मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) में ब्रह्मनिष्ठ ओज्जिया ढाग उपनिषद् अग्नि है । यम—√यम् (वश म करना, द्यासन करना से) +यन् या यच । सूर्य—√सू प्रेरित करना उत्पन्न करना से निपातन से मिष्ट होता है । इय मूय क समान प्रकाशमान अथ में भी ले सकते हैं ।

प्राजापत्य—प्रजापति एवं प्राजापत्य स्वाय में प्वज प्रत्यय । रश्मीन्—उगाति म रश्मि को √अश (व्याप्त करना) से बनाया गया है—जो मदन व्यापक है । रश्मि रस्मी को भी कहते हैं जो बाध लेती है । यहा भा ये ही भाव असीष्ट है । व्यूह समूह—वि और मम् पूर्वक √ज के नाट मध्यम पुरुष एक वचन के रूप हैं । भाव यह है कि अपने प्रलाभनों का समेट कर हटा लो । पलोभन भी तो ईश्वर ने ही बनाए हैं । नाथ ही उपनिषदा का विचार है कि जिस पर परमाना कृपा करता है, वही उस क स्वरूप को दख सकता है—‘ममेवम वगुन तेन लग्नस्तस्यप आत्मा वगुन तनू स्वाम् ।’ असायसी पुरुष—शक्र क मत में यह याहुति रूप अगा वाला आदित्यमण्डलम्य पुरुष का धारक है । वम्मुन असो असो पूर्व वगुन का निदशक है—वह—जो ऊपर वर्णित हुआ है—वह । अथवा—असी—अमु प्राण का मत्तमी एक वचन का रूप है—प्राण—प्राण म—प्रत्येक प्राण=प्राणी में । अहम्—यह परम त्मा का पर्याय है म का वाचक मवनाम नहीं है । इसी अर म यह वाक्स्वत, वामदेव क दशन और गीता म प्रयुक्त हुआ है । अस्मि—अहम् के अनुरूप त्रियापद है । √अस्+सट् उत्तम पुरुष एक वचन ॥१६॥

शान्तर भाष्य—स्वामी शक्राचार्य का इस का अनुवाद कुछ भिन्न है—‘ह जगत्पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करने वाले । हे मम

(ससार का नियमन करने वाले) । हे सूर्य (प्राण और रम का गोपण करने वाले) । हे प्रजापतिनन्दन । तू अपनी विरक्षा को हटा ले (अपन तेज को समेट ले) । तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उस में खूबना है । यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ" ॥१६॥

१७ वायुरनिलममृतमयेद भस्मान्त शरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर ॥

अर्थ—[मेरा] (वायु) प्राण आदि वायु (अनिनम्) नारण रूप वायु [और] (अमृतम्) अग्निनाशी कारण में [लीन हो रहा है] । (अथ) और अन्न (इत्म्) यह [मेरा] (शरीरम्) [पाञ्च भीतिर स्थूल] शरीर (भस्मान्तम्) भस्म होने वाला [अथवा भस्म होने तक रहने वाला] है । (क्रतो) हे कर्म करने वाले [मेरे] जीव (ॐ) ओ३म् (नामक परमात्मा) को (स्मर) याद करो (कृतम्) [अपने] किए हुए [कर्मों] को (स्मर) याद करो (क्रतो) हे कर्म करने वाले [मेरे] जीव, (स्मर) [ॐ को] याद करो (कृतम्) [अपने] कर्मों को (स्मर) याद करो ॥१७॥

टिप्पणियाँ—भाव—स्वामी नकाराचार्य ने इस में मुमुक्षु की भविष्य में हाने वाली स्थिति का चिन्तन माना है । उन का अनुवाद यह है—‘अब मेरा प्राण सर्वात्मिक वायु रूप सूनात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मावशेष हो जाय । ह भरे सवत्पात्मक मन । अब तू स्मरण कर अपने किए हुए को स्मरण कर, अब तू स्मरण कर अपन किए हुए को स्मरण कर । परन्तु ऐसा मानना विचारणीय प्रतीत होता है । इस से पहले मात्र मैं साधक परमात्मा के दर्शन के लिए उस में प्रारम्भ कर चुका है । वह उस दर्शन को प्राप्त कर इस नसार में विदा हो रहा है । उस का विचार और अन्त काल का चिन्तन इस में दिया है । इस चिन्तन से सासारिक मोह उसे नष्ट होना सक्केगा । क्रतो—अनु में सम्वाधन

एक वचन । ऋनु—कम, अत कम करने वाला । ॐ—यह परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम माना गया है । यह अ, उ और ऋ के मेल से बना है । यह अव्यय पद है और वणमाला की समस्त ध्वनियों की तथा ईश्वर के सब नामों को आनभूत करने वाला है । मन्त्रों के आदि और अन्त में 'म' के उच्चारण की प्रथा है । इस प्रणव भी कहत हैं । इस का अकेले 'म' भी जप बताया गया है । शक्करभाष्य के मत में यहाँ यह सत्य वक्त्र अग्निमन्त्रक ब्रह्म का चोतक है । स्मर— $\sqrt{स्मृ} + लोट्$ मध्यम रूप एक वचन ॥१७॥

१८. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
त्रिग्यानि देन त्र्युनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठा ते नमउक्ति विधेम ॥

अर्थ—हे (देव) दिव्य स्वरूप (अग्ने) परमात्मन्, (विश्वानि) सब (वयुनानि) स्मर्तों [और ज्ञान] को (विद्वान्) जानते हुए [तुम] (अस्मान्) हमें (राये) धन [=मोक्षधन की प्राप्ति के लिए] (सुपथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले जाओ । (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल—घोर (एन) पाप को (युयोधि) दूर कर दो—हटा दो । [हम] (त) तुम्हारे लिए (भूयिष्ठाम्) पुष्कल मात्रा में [अत पुन पुन] (नम उक्तिम्) प्रणाम के वाक्यों से (विधेम) परिचर्या [सेवा कर, अर्थात् बोलें] ॥१८॥

टिप्पणियाँ—अग्ने—अग्नि परमात्मा का भी नाम है । वह सब जगह विद्यमान है वह भी अग्नि के समान दाहक और प्रकाशन के गुणों से विशिष्ट है । इसे $\sqrt{अग}$, $\sqrt{अ}$ ज या अग्र + $\sqrt{नी}$ स निम्नत किया जाता है । नय— $\sqrt{नी} + लोट्$ मध्यम पुरुष एक वचन । सुपथा—अच्छे

भाग से । वेद के अनुरूप ही गीता ने भी मरने के बाद दो भाग बताए हैं अर्चिर्भाग और घूँघ्रभाग । पहला उत्तम है और मोक्ष को लाने वाला है । यहाँ उसी को ओर संकेत है । राये—२+चतुर्थी एक वचन (पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग) । यह घन लौकिक नहीं है, पारलौकिक और आध्यात्मिक है । अयुनानि—निषण्डु में प्रज्ञावाचक है, अतः ज्ञान, शास्त्रभाष्य-ज्ञान और क्रम । विद्वान्—√विद+शतृ+पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन । जानना हुआ । युयोधि—√यु से सोट मध्यम पुरुष एक वचन वदित रूप । आधुनिह इमे लिट लकारीय सोट कहते हैं । अस्मत्—अस्मद से पञ्चमी एक वचन । जुहुराण—√हृव+कानच् । एत—एतत् द्वितीया एक वचन, नपुंसक लिङ्ग । भूयिष्ठाम्—बहु+इष्टन् +आ (ह्यो०) । नमउक्तिम्—नमस उक्ति वचनम् तत् । प्रणाम अभिवादन आदि । विधेम—√विध (वदिक धातु)+विधि लिट उत्तम पुरुष बहु वचन ॥ १८ ॥

भात्र—इस मन्त्र में उपासक या जानी अपने ज्ञान और जीवन का चरम सीढ़ी पर पहुँच जाता है । अतः वह परमेश्वर से मोक्षदान की प्राप्ति करता है । उस के भाग की बाधाओं को निराकृत करना चाहता है । ॥१८॥

उपसंहार

१२ यहाँ वाजसनेयी महिमा श्री उपनिषद्—ईशापनिषत् समाप्त हो जाती है । यह नाम इस उपनिषत् के सबसे पहले पद 'ईशा' से मिला प्रतीत है 'क्या कि इमे ईशा वास्योपनिषत्' भी कहते हैं । उपनिषदों के इस शास्त्र स्फूर्तिप्रद, अज्ञान-तिमिर नाशक व्यापक ज्ञान के व्याख्याता उपदेशों को पढ़ कर ही शीघ्र ही हाथ न उपनिषदों को आत्मा, जीवन और मरण की शान्ति कहा था ।

वेदभारती

परिशिष्टम्

भाष्यप्रकाशिका सुधीरिणी
संस्कृतटीका

: १ :
वेदमंत्राः

१. गायत्रीमंत्रः

तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो न प्रचोदयात् ॥

(ऋ० ३/६२/१०, सा० १४६२, य० ३/३५, २२/९, ३०/२, ३६/३)

अयं सल्लु मन्त्रो वेदानां सार इति जनानां विश्वासः । अस्य
ऋषिर्गाथिनो विश्वामित्रः । स्तोतारः गायत्रीच्छन्दसि सवितुः स्तुतिं
कृत्वा बुद्धिकर्मणो शुद्ध्यर्थं प्रार्थनां कुर्वन्ति—

वयं भगवन् परमेश्वरस्य स्तोतारो भक्ता वा देवस्य द्योतमानस्य
सवितुः सर्वस्य जगदादि भूतजातस्य उत्पादकस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य
वा तत्र सर्वत्र प्रसिद्धं तत् वरेण्य-श्रेष्ठं कमनीयं वा भर्गं तेजः शक्तिं
वा धीमहि-सततं चिन्तयामः । अस्मासु धारयाम इति वा । न परमेश्वरः
न अस्माकं सर्वेषां धियः बुद्धी कर्माणि च प्रचोदयात् शुभमार्गे
कल्याणपथे प्रेरयेत् नयेत् ।

अयं भाव — वयं परमेश्वरं ध्यायाम । सोऽस्मान् कल्याणमार्गे
प्रेरयेत् ।

२. मद्रकामना

विश्वानि देव सवितरं दुरितानि परा सुव ।

यद् भद्रं तन्न मा सुव ॥

(ऋ० ५/५२/५, य० ३०/३)

अस्य मन्त्रस्य ऋषिः ऋग्वेदे तु श्यावाश्व आत्रेयः, परं यजुर्वेदे तु
नारायणो ऽस्ति । अस्मिन्नपि मन्त्रे सवितुः स्तुतिः प्रार्थना च स्तः ।
अत्रापि गायत्री छन्दः ।

अस्मिन् मन्त्रे स्तोतारं परमेश्वरं प्रार्थयन्ते यन् तेषां पापानि
कष्टानि च नश्यन्तु, कल्याणं च भवेत्—हे देव प्रकाशमान सवित
सर्वस्य जगदादि भूतजातस्य उपादक परमेश्वर सूर्य वा अस्माकं
सर्वेषां दुरितानि दुष्टाचरणानि दुःखानि वा परा सुव दूरे प्रक्षिप,
नाशय इति भावः । यन् यत्किञ्चिद् अपि भद्रं कल्याणकरं स्यात् न
सर्वं वाञ्छितं भद्रं कल्याणं सुखं वा न अस्माभ्यं सर्वेभ्यो भवद्रक्तेभ्य
मा सुव समन्तात् प्रापय—देहि ।

अयं भाव — परमात्मा एव अस्माकं दुःखानि पापानि च
नाशयितुं समर्थः, नान्यं कश्चित् । अतएव स प्रार्थ्यते ।

३. दीर्घायुष्कामः

तच्छुद्धं वैहितं पुरस्ताच्छुक्रं नुचरत्

पश्येम शरदं शतं जीवेम शरदं शतं

शृणुयाम शरदं शतं प्र ब्रवाम शरदं शतम् ।

अदीना स्याम शरदं शतं भूयश्च शरदं शताम् ॥

(ऋ० ७/६६/१६, य० ३६/२४)

अस्य मन्त्रस्य अपिस्तु दध्यङ् आयर्वण । अस्य देवता सूर्य ।
 द्यदश्च भूरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् ॥ अस्मिन् मन्त्रे सूर्य इति नाम्ना
 परमेश्वरस्य जाञ्जल्यमाना सर्वेषां कल्याणकारिणी सत्ता निर्दिश्य
 वर्षशतं यावत् स्वस्थ जीवितुं कामयते भक्ता ।

पुरस्ताद् अग्ने । उपलक्षणमेतन् । अतः सर्वत्र । त्वं सुप्रसिद्ध
 गुरु दीप्तिमत् शीघ्रमेव सुखादिसम्पादक देवहित देवेभ्यः समस्त-
 भूतजातेभ्यो हित कल्याणकारि बहु परमात्मन स्वरूपम् उद् चरन्
 व्याप्नोति । सर्वत्र वर्तते इति भावः । तस्य परमात्मनोऽनुकम्पया वयं
 मर्ते शत शरदं वर्षाणि यावत् जीवेम श्वामादिकं धारयाम प्राणवन्त
 म्यामेति भावः । एवमेवामेऽपि । शत शरदं वर्षाणि शृणुयाम
 शब्दादीन् आकर्णयेम । शत शरदं वर्षाणि प्रवाम सुष्ठु उपदेशादिकं
 व्यवहारादिशब्दं वाच्यान् आब्रूयाम । वयं गत शरदं शतं वर्षान्
 अदीना स्वतन्त्रा स्याम तिष्ठेम । शरदं शतात् शतमरयाया च
 अपि भूय अधिक जीवेम, शृणुयाम, प्रवाम स्याम च ।

मानवस्यायुः अल्पम् एव परन्तु यदि परमेश्वरस्य कृपा स्यात्
 तदैव सर्वमेतत्सम्भवति । अतएव तमेव प्रार्थयते जनः । स च सर्वेषां
 कल्याणं विदधाति ।

केचनान्तरं “सूर्यस्य भानुरित्यर्थं गृहीत्वा ‘सूर्यमेव प्रार्थयति जनः’
 सूर्यश्च स्वसामर्थ्येन सर्वेषां कल्याणं करोति” इति मन्यन्ते ।

: २ :

चरैवेति

रोहितस्यारण्ये सवत्सरचरणानन्तर भाविन हरिश्चन्द्रादीना
चान्त दर्शयति—

१. अथ हेति

(मय) [ह] रोहितस्य अरण्ये सवत्सर-चासानन्तरम् (ऐक्यवाक्यम्)
इदवाकुवशोत्पन्न हरिश्चन्द्र (वरुणो) देवो रोगरूपेण (अप्राह) । [तस्य]
वरुणेन गृहीतस्य हरिश्चन्द्रस्य (उदर जज्ञे) जलेन पूरितम् उच्छून
महोदरनामक रोगस्वरूपम् उत्पन्नम् । (तद् उ ह) तद् अपि सर्वम्
अरण्ये स्थितो (रोहित) पुत्रो मनुष्यमुखात् (शुभाव) [आकर्णयत्] ।
श्रुत्वा च (स) रोहित पितर द्रष्टुम् (अरण्याद्) [वनाद्] (ग्राम)
[निवास, नगर वा] [एयाय] आजगाम ।

२. तमिन्द्र इति

[तम्] आगच्छन्त रोहित मार्गमध्ये (इद) केनचिद् ब्राह्मण-
पुरुषरूपेण [पर्येत्य] प्राप्य [उवाच] इदम् उक्तवान् । [मनाभ्राताय] आ-
समन्ताच्छ्रान्त आश्रान्त सर्वत्र पर्यटनेन आन्ति प्राप्त , तद्विपरीत
अनाश्रान्त , एकत्रैवनिवासशील , तादृशाय । तथाविधस्य पुरुषस्य
(श्री) बहुविधा सपत् (न) (मस्ति) । यद् वा-नाना-इति पदच्छेद ।
श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य नाना श्री बहुविधा सपद् अस्ति
इत्यनेन प्रकारेण । [हि] (रोहित) वय नीतिकुशलाना पुरुषाणा मुखात्

(पुत्रम्) [भृष्टम्] । (वरो जन) विद्यादिभिः श्रेष्ठोऽपि पुरुष (नृप
पाप) नृपु मनुष्येषु सीदति इति नृपत् । श्रेष्ठोऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदा
ऽवस्थित तै अवज्ञात पापस्तुच्छो भवेत् । अतस्तव पितृगृहे वासो न
युक्त । न चारण्ये चरतो मम सहायो नास्तीति शङ्कनोयम् । (इन्द्र)
एव परमेश्वर एव (चरत) तव (सत्ता) भविष्यति । तस्मात् (चरैव)
सर्वथा अरण्ये चरस्व इत्येवमुवाच । एव बहुषु अपि पर्यायेषु द्रष्टव्यम् ।

तत्रेन्द्रोद्दिश्यो सवादे प्रथम पर्याय दर्शयित्व द्वितीय पर्याय
दर्शयति ।

३-४. चरैवेति

ब्राह्मणस्वरूपस्य इन्द्रस्य वाक्य श्रुत्वा (ब्राह्मण) अयम् अरण्ये
(चरैव) इत्येव [मा] माम् [अवोचत्] उक्तवानिति मनसि ब्राह्मणवाक्ये
पदान्तम् आदर कृत्वा [द्वितीय] पुनरपि एक (सप्तत्तरम्) (अरण्ये)
[चार] चरित्वा पश्चात् पितर द्रष्टु [स अरण्यात् प्राभम् एषाम्] । प्राभ
(तम्) आगच्छत् पुनरपि (इन्द्र) [पुरुषरूपेण] ब्राह्मणरूपेण [पर्यट्य]
आगत्य एवम् (उवाच) । (चरत) पर्यटन कुर्वत पुरुषस्य (जङ्घे)
(पुष्पिण्या) भवत । यथा पुष्पयुक्तो वृक्ष शाखा क्षता वा अथवा
सुगन्धोपेता सेव्या भवति, एव चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवत ।
तथैव (मात्मा) मध्यदेहो (भूष्ण) वर्धिष्णु (फलप्रहि) आरोग्य-
रूपफलयुक्तो भवति । यथा वर्धमानो वृक्ष कालेन फलानि गृह्णाति एव
चरत पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूप फल
गृह्णाति । तथैवास्य चरत पुरुषस्य (सर्वे) (पाप्मान) सर्वपापानि (प्रपद्ये)
प्रवृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे (अमेण) तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादि-
प्रयासेन (हता) विनाशिता सन्त (क्षरे) शेरसे शयाना इव भवन्ति ।

यथा शयाना पुरुषा स्वकार्यं कृपिवाणिज्यादिकं कर्तुं मशक्ता एव
पुण्येन विनष्टा पाप्मानो नरकं हातुम् अममर्या इत्यर्थः । तस्मात्
[एव] सर्वथा श्ररण्ये (चर), न पितुर्गृहे अवतिष्ठत्स्व ।

तृतीय पर्याय दर्शयति—

५-६. चरैवेति वा इति

(भग) सौभाग्यम् (मासीनस्य) उपविष्टस्य (भारते) तथैव तिष्ठति
न तु वर्धते । अभिवृद्धिहेतो उद्योगस्य अभावात् । (तिष्ठत) उपवेशन
परित्यज्य उत्थापनं कुर्वत पुरुषस्य भग (ऊर्ध्वं) अभिवृद्धे उन्मुख
तिष्ठति । कृपिवाणिज्याद्युद्योगस्य सभावितत्वात् । (निपद्यमानस्य) भूमौ
शयानस्य भग (शेते) निद्रां करोति । विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया
अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति । (चरत) तेषु तेषु देशेषु अर्जनार्थं
पर्यटनं कुर्वत पुरुषस्य (भग) सौभाग्यं (चरति) दिने दिने वर्धते ।
तस्मात् त्वं (चरैवेति) न त्वेकत्र तिष्ठ ।

चतुर्थ पर्याय दर्शयति—

७-८. चरैवेति वै मेति

चतस्र पुरुषस्य अवस्था । निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, संचरणं
वेति । ता च उत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलिद्व्यापरत्रेताकृतयुगैः समानाः ।
ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति ।

पञ्चम पर्याय दर्शयति—

९-१०. चरैवेति वै मा ब्राह्मण इति

(चरत) [वै] एव पुरुषः क्वचिद् बृहन्नामे (मधु) माद्विकं लभते ।
क्वचित् (स्वादु) मधुरम् [उदुम्बरम्] उदुम्बरादिफलविशेष [विदति]

लभते । एतदुभयम् उपलक्षणम् । तत्र तत्र विद्यमान भोगविशेष लभते ।
तत्र सूर्यो दृष्टान्तः । (ग) सूर्यं सर्वत्र (चत्) [मपि] (न) (तन्मते)
कदाचिदप्यलसो न भवति, तस्य (सूर्यस्य) (भोगात्) श्रेष्ठत्वं
अगद्वन्द्यत्वं (पश्य) । तस्मात् (चरेव) ।

इत्थमिन्द्रकृतेन रोहितोपदेगेन चरतो रोहितस्य स्वजीवने पितु
आरोग्ये च कारणभूत श्रेयोलाभं दर्शयति—

११. चरैवेति वोचदिति

वर्षे सवत्सरे पूर्ववदरण्यसचारी न ह रोहितं कंचिद् (ऋषि)
तस्मिन् (परिष्ये) (उपेयाय) प्राप्तवान् । कीदृशमृषिम् (अजीगर्त-) नामकं
[सौवर्गमिम्] सुयवमस्य पुत्रम् (अयनया) (परीतम्) अनालाभेन
क्षुत्पीडितम् ।

अथाजीगतेरोहितयोः सवादं दर्शयति—

१२-१६. तस्य हेति

(तस्य) अजीगतस्य [शुनं पुच्छं शुनं ते पुनीताङ्गुलम्]
शुनं पुच्छादिनामकं (यय) (पुत्रा) (प्राप्तु) । [त] पुत्रवन्तमृषिं
रोहितं (उवाच) ।

हे (ऋषे) (ते) तुभ्यम् (अहं) गवां (शतं) (ददामि) यच्छामि ।
दत्त्वा (अहम्) (एषा) पुत्रकाणां मध्ये (एकेन) केनचित् पुत्रेण (प्राप्तान्)
मदेहं वरुणात् (निःक्रीणं) मूल्यं दत्त्वा आत्मानं मोचयामीति ।

एवम् उक्तं (स) अजीगर्तं (ज्येष्ठं पुत्रं) शुनं पुच्छं नामकं दस्तेन
(निःशूलान्) स्वममीषे ममाकर्षन् रोहितं प्रत्येवम् (उवाच) । तुभ्यमेकं
पुत्रो दीयते (इमं) [तु] शुनं पुच्छं तु (न) ददामि । मम प्रियत्वाद् इति ।

ततो (माता) (कनिष्ठ) पुत्र हस्तेन गृहीत्वा एवमुवाच । (इत्त) शुनोलाङ्गूल मम प्रियं (नो) (एव) सर्वथा न ददामीति । तत (तो) उभौ मातापितरौ (मध्यमे) पुत्रे (शुन शेषे) दान (सपादणवन्तु) अङ्गीकृतवन्तौ ।

१७. तस्य ह शतमिति

तत (तस्य) अजीगर्तस्य (स) रोहितो गवा (सत) (हत्वा) (त) शुन शेषम् (भावाय) अवस्थित । तत (स) रोहितस्तेन शुन शेषेन सह (भरण्यात्) स्वकीय (ग्राम) प्रति [एषाय] आजगाम ।

तदागमनादूर्ध्वकालीनं घृत्तान्तं दर्शयति—

१८. स इति

(स) रोहित (पितरम्) [एष] आगत्य एवम् (उवाच)—हे (तत) पितर (हन्त) प्रावयोर्हर्षं सम्पन्न । (महय) (मनेन) शुन शेषरूपेण मूल्येन (भात्मान) मदेह वरुणात् (निष्क्रीणे) मूल्यं दत्त्वा आत्मानं मोचयामीत्यर्थः ।

१९. स वरुणमिति

तथोक्ते (स) हरिश्चन्द्रौ (वरुणम्) [वपसतार] उपेन्य (मनैत) शुन शेषेन ब्राह्मणेन (त्वा) त्वा [यजे] यक्ष्यामि इत्युक्तवान् ।

२०. तथेति

स (वरुण) अपि (तथा) (इति) अङ्गीकृत्यैवम् उवाच । (सन्निपात्) तव पुत्राद् रोहिताद् अप्यय (ब्राह्मण) (भूयात्) अभ्यधिक एव मम प्रिय इति ।

२१. तम्मा इति

उक्त्वा (तस्मै) हरिश्चन्द्राय कर्त्तव्यत्वेन (राजपूयम्) [प्रोवाच]
 उपदिदेश च । स हरिश्चन्द्रो राजसूय प्रक्रम्य तस्य मध्ये [अभिषेचनीये]
 यो ऽयम् अभिषेचनीयारय एकाह सोमयाग, तस्मिन् (तम्) (एतम्)
 शुन शेष पुरुष (पशुम्) (मातृभे) सवनीयपशुत्वेन आलब्धु निदिचत-
 वान् ।

[ऐतरेयब्राह्मणे ३३/३]



: ३ : शतपथब्राह्मणे मत्स्यावतारेतिहासः

अस्मिन्नाख्याने जलप्लावनस्य कथोपनिषद्वा । तदा मनु राजते
रम । जलप्लावने उत्थिते करिषत् मत्स्य मनो साक्षाप्यमकरोत्,
मनुरच सुरक्षितं पृथिव्या पुन मानवीं प्रजा प्रावर्तयत् । मनु मत्स्य
रक्षितवान् मत्स्यश्च मनुम् ।

१ ह वे नियतमेव प्रसिद्धम् इदं यत् कस्मिंश्चिद् दिने प्रातः
उपसि एव सेवका मनवे वैवस्वताय राज्ञे मनवे । तादर्थ्ये चतुर्थी ।
अवनेऽप्यते प्रक्षालयते हस्तादि अनेन इति अवनेऽप्य मुखादिप्रक्षालनाय
उदकं जलम् आजह, आनीतवत् । यदा अवनजनाय प्रक्षालनाय इदं
जलम् पाणिभ्यां हस्ताभ्याम् आहरन्ति गृह्णन्ति, एव तथैव तस्य मनो
अवनेनिजानस्य मुखादिकं प्रक्षालयत् पाणी हस्तौ एक मत्स्य मीन
मापदे प्राप्तः । जले एव मीन आसीत्, स मनो हस्ते जलेन सह
आगच्छत् इति भावः ॥५॥

२ ॥ मत्स्यः ह किल अस्मै राज्ञे मनवे वाचम् शब्दम् उवाच
कथितवान्—मा मा बिभृहि पालय । त्वा त्वाम् पारयिष्यामि रक्षिष्यामि
तारयिष्यामि वा ।

मनु प्रश्नमकरोत्—त्व मा मा मनु कस्मात् कष्टात् पारयिष्यसि
रक्षिष्यसि तारयिष्यसि वा इति । मत्स्य उदतरत्—भविष्यति काले
आगन्ता एक भोष जलप्लावनं सर्वा समग्रा इमा एता जगति

वर्तमाना प्रजा प्राणिन पदार्थान् च निर्वोडा नि जेषेण पूर्यरूपेण इत
कुत्रचित् नेष्यति, नाशयिष्यति च । तत तस्मात् जलप्लावनान् त्वा
त्वा पारयितास्मि-रक्षिष्यामि तारयिष्यामि वा इति ।

मनुरपृच्छत्—हे मत्स्य, ते तव मृति पालन पोषण च कथं केन
विधिना मया कर्त्तव्या इति ॥२॥

३ स मत्स्य ह किल उवाच कथितवान् । यावत् यदा वै सुनिश्चित-
मिदं यन् मादृशा प्राणिन शुल्लका जुद्धका अल्परा भवाम वर्तमहे
तावत् तदा न अस्माकं वै सुज्ञातमिदं यत् बह्वी बहुसख्याका नाष्ट्रा
नाशना हिंसका भवति वर्तन्ते । अत्र बह्वीति नाष्ट्रेति च उभे पदे
एववचनान्ते स्त । अथवा-यावत्-तावतो यस्मात्-तस्मात् इति
हेतुद्योतकौ एवार्थो स्याताम् । उत तथा च मत्स्य एक मीन मत्स्यम्
अन्य मीनम् एव अपि गिलति क्वलीकरोति । अत मा माम् ममे स्वस्य
पुरत कुम्भ्या मृत्तिकादिनिर्मिते कस्मिंश्चित् लघौ घटे पात्रे वा बिभरासि
स्थापय पालय च ।

॥ मत्स्य अहं यदा यस्मिन् दिने ऋते वा ताम् कुम्भी घटम्
प्रतिवधे अतिक्रम्य दीर्घं भवामि, यदा मम शरीरम् कुम्भस्य शरीरात्
अधिकं भवेत्, मय तदा कपूँ गर्तं खात्वा भूमौ निभिस्य तस्या तस्मिन्
गर्ते मा मा बिभरासि स्थापयित्वा पालय । स मत्स्य अहं ताम् कपूँ,
गर्तमित्यर्थ । प्रतिवधे अतिक्रामेयम् अथ तदा मा मा दीर्घं सजात
मत्स्य समुद्रम् जलनिधिम् अम्यवहरासि नय, तत्र च विसृज । तर्हि
तस्मिन् ऋते वै निश्चयेनैव अहम् प्रतिनाष्ट्र अतीत नाष्ट्रान्
नाशयितृन् हिंसकान् इति, हिंसमाना अगम्य भवितास्मि भविष्यामि ।
कश्चिदपि मा नाशयितु समर्थो न भविष्यतीति भावः ॥३॥

४ शस्वन् क्रमेण शीघ्रमेव भय महामत्स्य मास अभवत् यत ॥
 मत्स्य ज्येष्ठ बृहत्तम सर्गेभ्य प्राणिभ्य अधिकतम शीघ्रतम वर्धते
 वृद्धिम् आप्नोत् । 'सर्व एव हि जलचरा अतिशयेन वर्धन्ते, स तु
 मत्स्यत्वाद्नाष्टत्वाच्च बृहत्तम वर्धते' इति सायणाचार्यस्य व्याख्या ।
 अय भाव -स मत्स्य असाधारण आसीत्, अत शीघ्रम् एव अवर्धत ।

अथ इदानीं यदा स मत्स्य मनुना समुद्रे क्षिप्त तदा मत्स्य
 मनुम् अकथयन्—इतिषीम्—इत्यत्य त्रिथयो यस्या सा, निर्धारिताया
 तिथौ इति भाव । अत्र तिथिनिर्धारणं न विहित । समुद्रे मत्स्य-
 क्षेपदिवसात् कृतमो दिवसो ऽत्र अभिप्रेत इति तु न निर्दिष्टमस्ति ।
 सायणमतेन—इत्यतीना दशाना द्वादशाना वा पूरणी इतिथी । शब्दो
 ऽय 'समाम्' इत्यस्य विशेषणम् । अमुकवर्षे इति भाव । तद् स पूर्वोक्त
 ऋषे जलसमूह प्रागता उत्थास्यति । तत् तदा मा मा नावम् तरणिम्
 उपकल्प्य निर्माय उपासासै सेवस्व । नौका चिरन्त्य मा सेवस्व, अथवा
 मा मत्स्यमेव नौकारूपेण प्रयुज्य ता नावम् उपासासै आश्रय । स त्व
 मनु ऋषे जलसमूहे उत्थिते प्रादु भूते सति नावम् नौकाम् आपद्यासै
 आश्रयस्व, तत तदानीं, तस्माद् श्रौधात् वा त्वा त्वा मनु पारयितास्मि
 रक्षिष्यामि तारयिष्यामि च । इति ॥४॥

५ स मनु त मत्स्यम् एव मत्स्यस्य निर्देशम् अनुसृत्य
 भृत्वा पालयित्वा समुद्रम् अभि उदघौ भवजहार अत्यजत् । स मत्स्य
 रूप मनवे यतिषी समा य वर्षे, तत् तस्मिन् समये परिदिदेश निर्दिष्टवान्,
 ततिथी समाम्—तत्तिथियुक्ते वर्षे नावम् नौकाम् उपकल्प्य निर्माय
 उपासाञ्चक्रे सेवमानोऽतिष्ठत् । स मनु ऋषे जलप्लावने उत्थिते
 समायाते नावम् तरणिम् आपदे आरूढवान् । ॥ नाव मनु च स

मनुना पालित मत्स्य मूष मीनो वा उपगपुष्पुत्रे समीपे नौकाया
अथ आगच्छन् । मनु च तस्य मत्स्यस्य गृगे नाव नौकाया पाग
रज्जुम् प्रतिशुभोच नद्ववान्-अवध्नात् । तेन बद्धेन पागेन मनुनौकाभ्या
सह स मत्स्य एतम् पुरोदृश्यमान सर्वैर्हार्तिम् उत्तर गिरिम् हिमालय
नाम उत्तरस्थ पर्वत प्रति अधिदुद्राव मवेगम् अधिजगाम । सायण
'अतिदुद्राव' इति पठति । तत्रापि अयमेव अर्थः ॥५॥

६ स मत्स्य ह खलु उवाच—उवाच । त्वा त्वा वै ति सशयम्
मगीपम्—रक्षितवान्, अतारयमिति वा । इदानीं त्व नाव तरणि वृत्ते
द्रुमे प्रतिबन्धीष्व बधान । गिरी पर्वते ऽस्मिन् हिमालये सन्त वर्तमान
त्वा त्वाम् उदक जलम् अत आतर्मध्ये गिरिमन्तरन्तर् एव निर्भिद्य
ता ध्वंसीद् न नाशयिष्यति, अथवा अस्माद् देशाद् पृथक् न नेष्यति ।
यावत् यावत् यावद् दूर यथा यथा वा उदक जल ममरायात् अधो गच्छेन्
अवतरेत्, तावत् तावत् तावद् तावद् दूर, तथा तथा इति वा
अन्वयसमर्पति—अनुक्रमेण अवससर्पति—अवतर । इति ।

स मनु ह खलु तावत् तावत् तावन् तावद् दूरे, तथा तथा वा
अनु अवससप अनुक्रमेण अवतरन् । उत्तरस्थ गिरे हिमालयस्य तद्
एतद् प्रसिद्धमिदं मनोरवतरणप्रदेशम् इदानीमपि 'मनोरवसर्पणम्'
इति नाम्ना जानन्ति रयापयन्ति च जना । इति ।

स मोक्ष जलसमूह ह खलु ता तत्काले वर्तमाना सर्वा ममप्रा
प्रजा प्राणिन निष्वाह नष्टा अवरोत् । मय तदा इह अस्मिन् लोके
मनु एव एक एकल परिधिनीप सजीव सुरक्षितश्च अवशिष्टः ॥६॥

: ४ :

शतपथब्राह्मणे मनोः प्रजातिः

[मत्स्यापतारेतिहासस्योत्तरार्धः]

१. सोऽर्चञ्छाम्यन्निति

स जलप्लावनात् परिशिष्ट एकाभी मनु प्रजाकाम प्रजानि
कामयमान इन्द्रन् अर्चन् देवान् पूजयन् आभ्यन् तपश्चरन्
कष्टान्यनुभवन् चचार न्यवसत् । निवसन् तत्र प्रजाशमनायाम् अपि
च पाक्यज्ञेन ईजे पाक्यज्ञम् अयजत् । तस्मिन् यज्ञे स अप्सु जलेषु
प्राणरूपेषु । 'आपो वै प्राणा' इति शातपथी श्रुति । घृतमाज्यम् । दधि
क्षीरज अम्लगुणयुक्त विकार । मस्तु दधिसार । आमिक्षा दधि
जलम्, अथवा दुग्धदध्नो मिश्रित पेयपदार्थ-लप्सीति भाषायाम् ।
ताम् । इत्येतानि वस्तूनि । जुह्वाञ्चरार अहौपीत् । तत तस्मात्
अनुष्ठितात् पाक्यज्ञात् सवत्सरे एकस्मिन् वर्षे व्यतीत एका योषित्
मिश्रीभावात्मिका सम्बभूव सम्भूता प्रादुर्भूता । सा योषित् "पिबद्
माना पाक्यर्मात्मिका । पिव क्षरणे । आ-दकारप्रत्यय तत्त्वेन साक्षाद्
आत्मगामिफलत्वाद् आत्मनेपदम् । पिवतेर्दकारप्रत्यययोगाद् बत्वम्"
इति भाष्यकार सायण । शरीरी पाक्यज्ञ इति अर्थः अत्र सगच्छते
तराम् । घृतप्रभवाद् घृत स्रवन्ती इव उदेयाय उद्गता उदकादुत्थिता ।
एवञ्च सा सुस्निग्धा पिबद्माना येन तस्यै तस्या पदे घृत सन्तिष्ठते

स्म । यत्र यत्र सा पद न्यत्तात् तत्र तत्रैव घृतस्य चिह्नमभूत् । तथा इडाया च मित्रावरुणौ कथमपि सन्ममाते सगतौ मिलितौ । “प्राणापानौ मित्रावरुणौ” इति ‘प्राणोदानौ मित्रावरुणौ’ इति च श्रुतिवचनात् मित्रावरुणौ खलु प्राणापानौ, प्राणोदानौ वा । ताभ्याम् इडाया सम्मेलनमभूत् ॥१॥

२ ता हेति

ताम् इडाम् तौ मित्रावरुणौ उच्यते पृष्टवन्तौ-त्व वा असि इति । इडा कथितवती-अह मनो दुहिता-पुत्री अस्मि । अथवा अह मनुना दुखेन हिता प्राप्ता दोहनसामग्रीभूता वास्मि । एतच्छ्रुत्वा मित्रावरुणौ पुनरुच्यते-स्वमेव न कथय । त्व तु आत्रयो मित्रावरुणयो-प्राणापानयो दुहिता दोहनसामग्री असि एवमेव ब्रूय कथय । इडा तत्र स्वीकृतवती उवाच अबदन् च-न इति । अहमेव कथयितु न पारयामि न चाहो नरोमि । यत ॥ मनु एव माम् अचीचतत पाकयज्ञं कृत्वा अप्सु प्राणेषु घृतादिकं हुत्वा उत्पादयामास, अहम् इडा तस्य एव मनो दुहिता अस्मि भवामि नेतरम्य कस्यचिद्, न युवयो । तस्याम् इडायां अपि तु अमी मित्रावरुणौ ईपाते गतिं कुरुत । इडा अन्नभूतास्ति, प्राणापानौ च अन्नात् जायेते । अत एवेदमुक्तमिति प्रतिभाति न । अथवा-ईपाते शासनं कुरुत-साधिवारौ स्त इति भावस्यान् । तद्वा तत् मित्रावरुणयो अधिभारं वा जज्ञौ जानाति स्म वा अथवा तद् न जज्ञौ न जानाति स्म इति तु न जानीमहे । सा तु अति तौ अतिक्रम्य तत् स्थानं परित्यज्य इथाय गतवती । सा इडा मनुमनुममीपम् आजगाम आगच्छत ॥२॥

३. ता ह मनुरिति

मनु ताम् इडा दृष्ट्वा उवाच पप्रच्छ-त्व का असि इति ।
 मत्समीपे च निमर्थमागतवत्यसि । सा इडा उदतरत्-अहं तव मनोरेव
 दुहिता दुःखेन प्राप्ता दोहनसामग्रीभूता पुत्री अस्मि । मनु पुन
 पप्रच्छ-हे भगवति, त्वं मम मनो दुहिता-दुःखेन प्राप्ता दोहन
 सामग्रीभूता पुत्री इति आत्मानं रथ कस्मात् कारणात् कथयसि । सा
 इडा अरुणयन्-त्वं या अमू ता पूर्वम् अप्सु जलेषु ग्राणेषु घृतम्
 आज्यं, दधि क्षीरजं पदार्थविशेषं, मस्तु दधिसारम्, आमिक्षाम्
 दुग्धदध्नो मिश्रणजनितं पेयपदार्थं चेति आहुतीं हवींषि अहौषी
 अजुहोत्, ततः साभ्य माम् अजीजनथा उत्पादयामास । सा अहम्
 आशीं कल्याणकारिणी वा मंगलभूता वा भद्राय कामो वा अस्मि ।
 अतः ता तादृशीं भद्रकारिणीं मा मा यज्ञे प्रजोत्पादनकर्मणि अवकल्पय
 अङ्गीकुरु-सहचरीं-पत्नीं कुरु । चेद् यदि वै असंशयं मा मा यज्ञे
 प्रजोत्पादनकर्मणि अवकल्पयिष्यसि सहधर्मचारिणीं विद्यास्यास्ति,
 प्रजया सन्तानेन पशुभिः गवाश्वादिभिः बहु समृद्धं भविष्यति । बह्वो
 प्रजा पुष्कलपशुसमूहश्च लप्स्यसे इति भावः । याम् उ या वा चित्
 ह्यलु आशिषं कामनाम् आशासिष्यसे अभिलषिष्यसि, सा आशी
 कामना ते तव सर्वा समग्रा समर्द्धिष्यते सिद्धा भविष्यति । इति अनेन
 इडाया आग्रहेण ताम् एतत् एताम् इडां स मनु यज्ञस्य मध्ये
 सन्तानोत्पादने अवकल्पयन् अङ्गीकृतवान् । एतद् एव यज्ञस्य क्रतो
 कर्मणो मध्यमस्ति यत् प्रयाजानुयाजयोः अन्तरा मध्यम् अस्ति ।
 “प्राणा वै प्रयाजानुयाजा ” अतः प्राणयो मध्ये घृतदध्यादीनाम्
 आहुतिरेव यज्ञस्य मध्ये इडाया मनुद्वारा अवकल्पनमस्ति ॥६॥

४. तयार्चनिति

प्रचक्षाम सतान कामयमान स मनु तथा इडया सह अर्चन्
दर्शपूर्णमासयो देवान् पूजयन् आम्यन् तप कुर्वन्, कष्टानि अनु-
भूयन् इति भावः । अचान् व्यवसत् गृहस्थजीवनलक्षणं यज्ञमकरोत् ।
तथा इडया सहधर्मचारिण्या शक्तिभूतया वा स मनु इमा जगति
विद्यमाना प्रजातिं सत्तति प्रजेशे उत्पादयामास, या इय मनो प्रजाति
प्रजा पश्यते स्मर्यते वा । जगति सर्वे जाता जनिष्यमाणा च
स्त्रीपुरुषा मनो प्रजातित्वादेव मानवा उच्यन्ते । स मनु या का च
आशिष भद्रं कल्याणं कामना वा वेनया लालसया आशास्त
लब्धुमैच्छन्, सा आशी सर्वा सर्वथा अस्मै अस्य मनो कृते
समार्प्यत सक्ता सिद्धा बाभूत् । मनु सर्वान् कामान् तथा इडया
महधर्मचारिण्या प्राप्तवान् इति निष्कर्षः । अथवा याम् उ एनया इति
पदच्छेदः स्यात् । एनया इति इडाया श्रोतकं पदम् । एनया अनया
इडया इति भावः ॥१०॥

५. सैपेति

निदानेन अनुसंधानेन लक्षणैर्वा ज्ञायते यद् एषा या मनो
दुहिता आसीत्, अप्सु घृतादीनामाहुतिभ्य उत्पन्नया यया च मनु
प्रजातिं जनयामास, सर्वा च कामना लब्धवान्, मनुना च या यज्ञमध्ये
अवकल्पिता सा खलु यत् या इडा इति नाम्ना प्रसिद्धा । सा च इडा
पात्रस्या सामग्री, पशवो वा । उक्तमस्ति शतपथब्राह्मणे अग्रे
‘‘अनुपदमेव—पशवो वा इडा’’ इति, ‘‘स समवदायेडाम् । पूर्वार्द्धं
पुरोडाशस्य प्रशीर्षं पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति, तान् होत्रे प्रदाय
दक्षिणात्येति’’ इति च ।

स जन य इ खलु एव विद्वान् जानन् इडया पुरोडाशादिना
चरति प्राणयज्ञ मम्पादयति, एता मानवीं प्रजातिं प्रजा सतान
प्रजायते उत्पादयति, या मनु प्राजायत उत्पादयामास । तेनया
लालसया, अथवा उ खलु एनया इडया या वा च आशिष कामना
भद्रं वा आशास्ते कामयने सा कामना भद्र वा अस्मै जनाय सर्वा
सम्पूर्णा समृद्ध्यते पूर्णा सनायते ॥११॥

अस्मिन् भागे ग्राहणकार सूचयति यद् आख्यानमिदं यथार्थम्
घटितेतिहासरूपेण न ग्राह्यम् । अत्र रूपकमाभित्य इडाप्रयोगस्य
महत्त्वमेव प्रतिपादितमस्ति । इति ।

[शतपथब्राह्मणे १. ८. १. ७-११]



: ५ :

ऐतरेयब्राह्मणे शुनःशैपाख्यानं वरुणस्य तितिक्षा

१. अथेति

(प्रथ) सम्प्रति । (एन) पुत्रार्थिन हरिश्चन्द्रम् (उवाच) नारदं
रथिनशान्-हे हरिश्चन्द्र पुत्रप्राप्त्यर्थं त्व (राजान) जगत् नित्यन्तार
(वरुण) देवम् (उपधाव) प्रार्थयस्व-हे वरुण, एतादृशीं कृपा विधेहि
यया (मे) मम (पुत्र) सूनु (जायताम्) उत्पद्येत । यदि अह पुत्र
लभेय, तर्हि (तन) पुत्रेण अह (त्वा) त्वा तुभ्य वरुणाय (यज्ञं) यक्ष्यामि
बलिरूपेण उपाहरिष्यामि ।

२-५. तथेति

हरिश्चन्द्रं नारदस्य उपदेशानुसारं कर्तुं सहस्रमिति प्रसाशननाह-
(तथा) एवमेवाह करोमीति । (त) हरिश्चन्द्र (राजान) जगत् स्वामिन
(वरुण) देवम् (उपससार) उपागच्छत् प्रार्थयामास च-(मे) मम (पुत्र)
(जायताम्) उत्पन्न स्यात् । अह (तन) पुत्रेण (त्वा) त्वा लक्ष्मीकृत्य
(यज्ञं) यज्ञं करिष्यामि । वरुणोऽपि तस्य प्रार्थनां मन्यमानश्च
स्वीकृत्य आह-(तथा) एवमस्तु । तव पुत्रो भविष्यति । एव (तस्य)
हरिश्चन्द्रस्य (पुत्र) सूनु (जज्ञे) उदपद्यत । तस्य (नाम) (रोहित)
इति कृतममूत् ।

६-२४.

उदानीं ब्रह्मि. पर्यायै वरुणस्य दक्षिण हरिश्चन्द्रस्य प्रत्युक्तिश्च प्रतिपाद्यते । प्रथम वरुण रोहितस्य बलिं याचते, हरिश्च द्रश्च व्याजेन केनचिद् समयमतिक्रामति । वरुणश्च रोहितस्य यौवनं प्राप्तिपर्यन्तं हरिश्चन्द्रस्य व्याजान् शृण्वन् महते । इयमेवात्र वरुणस्य तितिहा । अत्र समानानां शब्दवाक्यानां व्याख्या पुन पुन न कृता, एवमेव व्याख्यानं प्रदत्तं, सुगमत्वात् ।

६-८. त होवाचेति

हरिश्चन्द्रस्य पुत्रे जाते (स) वरुण (त) हरिश्चन्द्रमुवाच अकथयत्-(वै) खलु (ते) तव (पुत्र) सुनु (ममनि) उत्पन्नो जात । (मनेन) पुत्रेण (मा) मा-मह्य (यजस्व) उपाहर । (स) हरिश्चन्द्र (ह) खलु (उवाच)-यदा यस्मिन् काले वै खलु पशु यज्ञे उपाहरणीयं जन्तु, अत्र बालक (निदश) अतिक्रान्तानि दश दिनानि यस्मात्, स (भवति), जन्मनो दश दिनेभ्यः पश्चादिति भावः । (अथ) तदा (स) पशु (मेव) यज्ञार्ह-यागयोग्य (भवति) जायते । अतः अयं बालक अपि-निदश (तु) खलु (अस्तु) भवतु । (अथ) तदा (तदा) तुभ्य (यज्ञे) यज्ञं करिष्यामि । वरुण अगी अकरोत्-(तथा) एवमस्तु । अयं बालक निर्दशो भवतु, तदा मर्त्यं तं यक्ष्यसि ।

६-११. स हेति

(स) रोहित निर्दश (आस) बभूव । यदा वा इति-अयं भावः - हरिश्चन्द्र कथयति-मन्ये अशौचस्य दश दिनानि तु व्यतीतानि,

पर दन्तानामभावे अस्य अवयवा न सम्पूर्णा । विस्लावयव न यागयोग्य । अत दन्ता आगन्धेयु, तदैव होतव्यो ऽय बालक ।

१२-२१. तस्य हेति

(जहिरे) उत्पन्ना जाता । (भजन) जाता । लुङि रूपमिदम् । (पच ते) पतन्ति । अलीना दन्ता पशो अगपूर्ति न कुर्वन्ति, अन ते पतन्तु । (पेदिरे) पद्धातोर्लिङि रूपम्, अपतन् । (भगत्मन) लुङि रूप तस्मादेव धातो, न एवार्थः । पुनर्जात इति-पुनरुत्पन्नाता स्थिरत्वेन सम्पूर्णावयवत्वात् पशु मेध्य भवति ।

२२-२३ क्षत्रिय इति

(क्षत्रिय) राज्ञ्यकुलोत्पन्न बालक । यद्यपि अय सम्पूर्णावयव सनात तथापि अय क्षत्रियपुत्र अस्ति । अत स्वजात्या अनुरूप (सानाह) मनाह धनुर्माणरुवचादिरूप मभार धारयितु शीलम् आचार यम्य स तथाविध भवतु । तदा स्वजात्युचितव्यापारमपूर्ता एव मेध्यत्वम् । अत रोहित (तु) क्षिप्रमेव सनाह प्राप्नोतु ।

२४-२७ स ह मनाहमिति

(प्राप्त) प्राप्तवान् । शस्त्रा दधारणे समर्थ युवाभूत् । वरुणस्य रोहितदन्तायानुरोधे स हरिश्चन्द्र रोहित यष्टुमगीकृत्य तम् (भामन्वयामात) आमारयन्, उगाच च । (तन) प्रियपुत्र । उपलालनार्थं पुत्रे पितृवाचिततशब्दप्रयोग इति सायणाचार्यः । पर तातवद् अय शब्द स्नेह्योक्तः सम्बोधनशब्द एव । (भगम्) एव वरुण (त्वा) रोहित (मह्य) हरिश्चन्द्राय अनेन समयेन (भदान्) दत्तवान्, यदह त्वयि जाते त्वया अरमै यक्ष्य इति । त्वयि जाते तु मया यज्ञ न

कृतम् । (हत) पर महद् दुःखमिदं यद् इदानीं तु मया समय-
अनुसर्त्तव्यम् । अतः (मह) हरिश्चन्द्र (त्वया) रोहितेन (इम) वरुण-
(यज्ञे) यक्ष्ये । यज्ञे तत्र बलिमस्मै प्रदाय प्रतिष्ठा पूरयिष्यामीति भावः ।

२८. स ह नेति

एतत् श्रुत्वा रोहित स्वर्वालिदानाद् विभ्यद्, हरिश्चन्द्राय
वचनं तिरस्कृत्य (ह) खलु (न) मयास्मै यज्ञं न करिष्यसि । नाहं तव
प्रस्तावमुरीकरोमि । एवम् (उक्त्वा) पथयित्वा (स) रोहित (धनुः)
शरासनम् (भावात्) गृहीत्वा (भरण्य) वनम् (उपातस्थौ) अगच्छत् ।
तत्र च (भरण्ये) वने स (सबत्सरम्) एकं वर्षं यावत् (वषाट्) अभ्रमन्
न्यवसत् वा । धनुर्महर्षमात्मरक्षायै एव ।

[इतो ऽग्निमा कथा पूर्वमेव “२ चरैवेति” इति
पाठे प्रस्तावर्तते । तत्र दृष्टव्या ।]

[ऐतरेयब्राह्मणे ३३/२]



: ६ :
४ तैत्तिरीयोपनिषदि
शिक्षावल्ली
१ तपः

किं किम् अनुष्ठानमिति प्रतिपादयति—ऋत यथाशास्त्र
यथाकर्तव्यं बुद्धौ परिनिश्चितम् अर्थमिति शङ्कराचार्या । सत्यधारण
मिति दयानन्दस्वामिन । नियमानुशासने इत्याधुनिका । वेदा,
ईश्वरो वेति ब्राह्मणग्रन्था । स्वाध्याय प्रतिदिनम् अव्यवहित नि स्वार्थ-
भावेन वेदादिशास्त्राणामध्ययनम् । प्रवचनम् अध्यापनं ब्रह्मयज्ञो
वा । एतानि ऋतादीनि अनुष्ठेयानि इति वाक्यशेष । एव सर्वत्र
वाक्यशेष उद्घनीय । सत्यं च सत्यरचनं यथाभ्याख्यातार्थं वा ।
यथादृष्टं यथानुभूतं यथाज्ञातं च सत्यं भवति । तपः कुन्दादि, क्लेश-
सहृत्वमिति भावः । दम इन्द्रियजयः । शमः अन्तःकरणोपशमः ।
अग्नयः गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयादिरूपा आवातव्याः । अग्निहोत्र
सायं प्रातः मन्त्रपूर्वकम् अग्नौ आहुतिप्रक्षेपः । तद् होतव्यम् ।
अतिवयः विद्वांसः सदाचारिणः हितकारिणः अभ्यागता जनाः, ते
पूज्याः सत्कर्तव्याः । मनुष्यस्य इदम् मानुषं लौकिकं सव्यवहारः ।
यथास्थितिं यथाप्राप्तं तत्सर्वं कर्तव्यम् । प्रजा सत्तानोत्पत्तिः कर्तव्या ।
प्रजनं ऋतौ ऋतौ भार्याभिगमनम् । प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः । पुत्र
गृहस्थकर्मणि प्रजननाय निवेशयितव्यः । एतानि सर्वाणि कर्माणि
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां सह नित्यं सम्पादनीयानि ।

स्वामिशकराचार्य लिखति—“सर्वेरेतै वर्मभिर्युक्तस्य स्वाध्याय प्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम् । स्वाध्यायाधीन ह्यर्थज्ञानम्, अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयं, प्रवचनं च तदविरमरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च । अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः ।”

सत्यमिति सत्यमेव अनुष्ठातव्यम् इति सत्यवचा राधीतरं मन्यते । सत्यवचा—सत्यमेव वचं यस्य स, यथार्थवचनं । अथवा सत्यवचा नाम राधीतरं रथीतरस्य गोत्रं—वशीय राधीतराचार्यः । तप इति तप एव कर्त्तव्यम् इति तपोनित्यं पौरुशिष्टि उपदिशति । तपोनित्यं तपसि नित्यं तपः परं । अथवा तपोनित्यं इति नाम पौरुशिष्टि पुरुशिष्टस्य अपत्यं पुमान् पौरुशिष्टिराचार्यः । स्वाध्यायप्रवचने एव अनुष्ठेये इति नाको मौद्गल्यः प्रतिपादयति । नाकः कः सुखम् । न कम् अत्र दुःखम् । न अत्र विद्यते यस्य स नाकः सुखी जनः । अथवा नाको नाम मुद्गलस्य अपत्यं पुमान् मौद्गल्य आचार्यः ।

इदानीम् तैत्तिरीयोपनिषत्कारः प्रकरणमुपसहरन् स्वकीयं मतं वृद्धाति—तत् स्वाध्यायं हि एव तपः । तत् प्रवचनं हि एव तपः । अतः एते स्वाध्यायप्रवचने एव सर्वदा अनुष्ठेये । अयं भावः—स्वाध्यायेन सर्वविषयाणां सत्यतपोदमशमादिकर्मणां ज्ञानं भवति । प्रवचनं च तदैव भवति यदा जनः तत्सर्वं स्वयमेव जीवने व्यवहारे च सम्पादयति यत्किमपि स उपदिशति । अतः स्वाध्यायप्रवचनयोः कृतयोः सर्वाणि कर्माणि सम्पादितानि भवन्ति । वैशद्यार्थं छात्राणां सुखावबोधायैव विस्तरेण तत्तत्कर्मणां शब्दशः उल्लेखो विहित आचार्येण ।

[इति नवमोऽनुवाकः]

॥ आचार्यानुशासनम्

आरिमन् अनुवाके आचार्यं ब्रह्मज्ञानात् पूर्वं नियमेन कर्त्तव्यानि श्रोतस्मादादिर्कर्माणि उपदिशति । अनुशामनं पुरुषमस्काराय भवति । सारङ्गनस्य हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्जमैवोत्पद्यते इति स्वामिशङ्कराचार्यः ।

वेदम् ऋग्वेदादिकम् अनून्य अभ्यास्य । आचार्यं गुरु । मनुमतेन तु वेदस्य अध्यापयिता एवाचार्यं भवति । अग्नेवासिनं गुरुकुलनिवासिनं शिष्यम् अनुशास्ति साररूपेण कर्त्तव्य व्यवहारमुपादिशति ।

सत्यं यथाप्रमाणावगतं वचं वदन् हि । तथैव धर्मम् अनुष्ठेयानि कर्माणि आत्मन्थित्यै वेदादिषु वर्णितानि चरन् व्यवहर । स्वाध्यायाद् अध्ययनात् मा प्रमद प्रमादम् उपेक्षा मा कार्षी । आचार्याय गुरुवे प्रियम् इष्टं धनम् आहृत्य आनीय समर्प्य च कृतविवाहं प्रजातन्तु प्रजाया प्रसरं पालनपोषणे वा मा व्यवच्छेत्सी न भिक्षि । यथा वशकर्म्मपरम्परे साधु प्रसरत तथैवाचरणीयम् । 'अनुत्पद्यमाने ऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नं कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः' इति शङ्कराचार्यः ।

सत्यात् न प्रमदितव्यं मृत्यस्य उपेक्षा न कर्त्तव्या । अनृतभाषणं व्यवहारादिकं न कर्त्तव्यमिति भावः । धर्मात् न प्रमदितव्यं प्रमादो न कार्यः । कर्त्तव्यानि कर्माणि इहलोके परलोके च स्थितिकारकाणि

नित्यम् अव्यवहित च सम्पाद्यानि । एष कुशलाद् आत्मारक्षार्थात्
 कर्मण न प्रमदितव्यम् । भूति मङ्गलम् ऐश्वर्यं वा । तस्यै भूत्यै
 भूत्यर्थात् ऐश्वर्यार्थात् मङ्गलयुक्ताद् वा कर्मणो न प्रमदितव्यम् ।
 स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय अध्ययनम् ।
 प्रवचनम् अध्यापनम् उपदेशश्च । ते हि नियमेन कर्त्तव्ये । एवमेव
 देवपितृकार्याभ्या देवयज्ञात् पितृयज्ञात् च न प्रमदितव्यम् । एतानि
 सर्वाणि पूर्वमुक्तानि कर्माणि नित्यमेव सम्पाद्यानि ।

मातृदेवो माता देवो यस्य स मातृदेव, मातु पूजक इति
 भावः । तादृशः भवत्या । एव पितृदेवः पितु पूजक, आचार्यदेवः
 आचार्यस्य पूजकः अतिथिदेवः अतिथीना सत्कर्त्ता भव । एते सर्वदा
 एव सत्कर्त्तव्या, तेषामुपदेशश्च पालनीयः ।

यानि अपि च अन्यानि अनवधानि अनिन्दितानि शिष्टाचारादि
 लक्षितानि शिष्टैः अभिनन्दितानि आहृतानि च कर्माणि स्युः, तानि
 त्वया सेवितव्यानि कर्त्तव्यानि । इतराणि निन्दितानि शिष्टजने
 वृत्तान्यपि नो न सेवनीयानि । यानि अस्माकम् आचार्याणां
 सुचरितानि शोभनचरितानि सदाचारपरायणानि कर्माणि शास्त्रा
 नुकुलानि सन्ति तानि एव त्वया उपास्यानि अनुयातव्यानि, नियमेन
 कर्त्तव्यानि इति भावः । इतराणि अतो विपरीतानि अस्माकमपि
 चरितानि नो न अनुकरणीयानि ।

ये के च विशेषगुणयुक्ता आचार्यत्वादिधर्मे विशेषिता अस्मत्
 अस्मत्त श्रेयासः प्रशस्यतरा ब्राह्मणा वेदज्ञा ब्रह्मज्ञानिनो वा तव
 गृहे आगन्त्रेयुः, तेषां त्वया आसनेन आसनदानादिना सत्कारेण

प्रशस्तितव्यं श्रमं अपनेतव्यं । सर्वथा अतिथिसत्कारपरायणो भव
इति भावः । अथवा-गोष्ठ्ययादिषु ण्ठादृशेभ्यो विद्वद्भ्य उच्चासनानि
ऋदाय समुचित आदरं करणीयं । तेषामुन्नतो तेभ्य अनन्यसूयन्
तेषामुपदेशस्य सारं गृहाण इति वा भावः स्यात् ।

किं च यन् किञ्चिदपि देयं तत् ब्रह्मैव दातव्यम् । अथ ब्रह्मया
श्रद्धाया अभावेऽपि त्वयार्थिभ्य धनादिकं देयं दातव्यम् । अथ ब्रह्मया
अदेयं किमपि न दातव्यम् । श्रिया विभूत्या स्वशक्त्यनुसारमेव देयं
दातव्यम् । हिया लज्जया च देयम् । भिया भोक्त्या अपि देयम् ।
मविना दयामैश्यादिकार्येण देयम् । यथारथं किञ्चिदपि स्यात् तथा
दानमवश्यं दातव्यम्, अथवा स्वयमेव—आत्मविभूतिकलं सेवमानं
पापीयान् भविष्यति ।

अथैव वर्तमानस्य यदि कदाचिन् ते तव मनसि श्रुते स्मार्त्ते
वा कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिक्त्वा सशयं स्यात्, ये तत्र
तस्मिन् देशे काले च ब्राह्मणा वेदस्य ब्रह्मणो वा ज्ञातारं बुधा ।
सम्मर्शिनं विचारशीला । युक्ता वृत्ते वा अभियुक्ता स्वयं प्रवृत्ता
कर्मणि । आयुक्ता अपरप्रयुक्ता । अलूला अन्ता अक्रमताय—
प्रियाचरणा । धर्मशामा धर्मशायणा, अन्येषां चापि धर्मो प्रेरका ।
सु भवतु । ते यथा येन प्रसारेण तत्र तस्मिन् कर्मणि वृत्ते आचारे
वा वर्तन् व्यवहरेषु, तथैव त्वमपि वर्तथा व्यवहरे ।

अथ अभ्यारयातेषु केनचिद् अभ्युस्तेषु सद्विद्यमानेन दोषेण
संयोजितेषु कर्मसु वृत्तेषु च तथा वर्तथा व्यवहरे यथा तत्र तथाविधेषु
कर्मसु प्रमाणभूता वेदज्ञा ब्रह्मविद् विचारशीला कर्मवृत्तयो स्वयं

प्रवृत्ता अपरैश्चापि प्रवर्तिता मधुरव्यवहरणशीला धर्मपरायणा
वर्तोरन् व्यहरेयु ।

एष आदेश निधि । एष उपदेश पित्र्याचार्यादीना पुत्र
शिष्यादिभ्य अनुशासन शिक्षा वा अस्ति । एषा वेदोपनिषद् वेदस्य
रहस्य सारो वा । एतद् एव अनुशासन संस्कार नियमेन नित्य
पालनीया आज्ञा वा । एव यथा पूर्वमत्र उक्त तथा सर्वम् उपासितव्य
सेवितव्य व्यवहर्तव्यम् । एव चैतद् उपास्य सर्वमिदम् अनिवार्यरूपेण
नियतमेव पालनीयम् । पुनर्वचनम् आदरार्थं यत्ताधानाय वा ।

इत्याचार्यामुशासनम् ।

[तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षासंख्याम् एकादशोऽनुपाकः]



वेदभारती

शब्दानुक्रमणिका

[पदों के आगे पहले पाठसंख्या और उस के आगे
संदर्भसंख्या दी गई है ।]

अक्रायम्	७८	अनाश्रान्ताय	२।२
अगान्	७।८	अनुपश्यन्	७।७
अग्नय	६।३	अनुशासनम्	६।११।१२
अग्निहोत्रम्	६।१	अनुशास्ति	६।११।१
अग्ने	७।१८	अनुच्य	६।११।१
अजनि	५।२	अनजम्	७।४
अजाजनत	४।२ (८)	अन्त	३।६
अजोजनया	४।३ (९)	अन्तेवासिनम्	६।११।१
अज्ञान	५।४	अथ तम	७।६
अतिवेवेयाय	४।२ (८)	अवससप	३।६
अतिषय	६।३	अववसपासि	३।६
अतिनाष्ट	३।३	अथ	७।४
अतिवर्ध	३।३	अयत्सत	८।५
अथ	२।१	अपापविद्धम्	७।८
अथ	७।१।१०	अपावृणु	७।१५
अष्टषान्	७।८	अपिहित	७।१५
अदान्	५।६	अपीपरम्	३।६
अदीनः	१।११।१	अप्सु	४।१ (७)
अधिदुद्राव	३।५	अभिषेचनीय	२।२१
अनवद्यानि	६।११ ५-७	अमूर्	५।३,

	७।७	अस्नाविरम्	७।८
अभ्यवजहार	३।५	अस्मच्छ्रयास	६।।।८
अभ्यवहरासि	३।३	अस्मन्	४।१८
अभ्याहृयातेषु	६।।।१०-११	अस्मि	७।१६
अमी	४।२ (८)	अहम्	७।१६
अमू	४।३ (६)	अहोषी	४।३ (६)
अमृतम्	७।११	आगन्ता	३।४
अर्चन्	४।१ (७)	आजह्नु	३।१
अर्षा	७।८	आरमहन	७।४
अर्षन्	७।४	आदाय	२।१७
अलुङ्गा	६।।।१०-११	आपचासै	३।४
अवकल्पय	४।३ (६)	आवेदे	३।१, ५
अवद्य	६।।।४-७	आप्नुवन्	७।४
अवनेग्य	३।१	आमन्त्रयामास	५।६
अवनेजनाय	३।१	आमिक्षा	४।१ (७)
अवनेमिजानह्य	३।१	आलेभे	२।२१
अवशिष्यते	७।।।०	आवृत्त	७।३
अवाकल्पयत्	४।३ (६)	आशासिदग्ने	४।३ (६)
अविद्यया	७।११	आशास्त	४।४ (१०)
अविद्या	७।६	आशी	४।३ (६)
अवोषत्	२।३	आस	५।३
अन्नणम्	७।८	आसीन	२।६
अशानया	२।११	आसु	२।१२
अशनुते	७।११	आ सुव	१।।।
असम्भव	७।१३	आस्ते	२।६
असन्भूति	७।१२	आहु	७।१०
असावसो	७।१६	आहुती	४।३ (६)
असुर्या	७।३	आहुत्य	६।।।१-४

इतिपीम्	३१४	उवाच	२१२
इदं, सर्वम्	७११	उवाद	३१२
इद्र	२१२	ऊचतु	४१२ (८)
इयाय	४१२ (८)	ऊतम्	६११
ईजे	४११ (७)	एकत्वम्	७१७
ईगा	७११	एकम्	७१४
ईपाने	४१२ (८)	एकपै	७११६
उ	२११, ७१५	एतत्	४१३ (६)
उचरत्	१॥११३	एत्य	२११८
उत	३१३	एजत्	७१४
उतिष्ठन्	२१८	एन	७११८
उत्थिते	३१५	एनत्	७१४
उद्वयते	७११०	एनया	६१४ (१०)
उदरम्	२११	एयाय	२११
उदुम्बरम्	२११०	एवमुपासितव्यम्	६॥१११२
उदेमाम	४११ (७)	ओम् (३५)	७११७
उपकल्प्य	३१४	ओष	३१२, ४
उपभाव	५११	कनिष्ठ	२११५
उपमापुष्पुवे	३१५	कमविधिक्रिस्ता	६॥१११०-११
उपसहार	७११८	कधूर्म्	३१३
उपससार	२११६, ५१२	कलि	२१८
उपानस्यौ	५१६	कवि	७१८
उपासते	७१६	कुम्भ्याम्	३१३
उपासाचक्रं	३१५	कुर्वन्	७१२
उपासासै	३१४	कुञ्जलान्	६॥११११-४
उपास्यानि	६॥१११५-७	कृतम्	२१८
उपाय	२१११	को मोह	७१७
		कतो	७११७

धुल्लका	३।३	ततिर्धम्	३।५
सात्वा	३।३	तदोघ	३।४
गिलति	३।३	तन्तु	६।११ १-४
चक्षु	१।१११	तद्वयते	२।१०
चचार	२।३,	तमसा	७।३
	५।६	तस्मा	२।२१
चरत	२।२, ४	तिष्ठत	२।६
चरन्	२।५	तीर्त्वा	७।११
चराति	२।६	ते	४।३ (६)
चरैव	२।२	त्यक्त	७।१
जगन्	७।१	त्रैता	२।८
जगती	७।१	त्वमीपाते	४।२ (८)
जगत्याम्	७।१	त्वा	२।१६
जग्राह	२।१	त्वा	३।२
जनिरे	५।४	दत्त्वा	२।१७
जज्ञे	२।१, ५।२	दधि	४।३ (६)
जज्ञी	४।२ (८)	दम	६।१
जवीय	७।४	दधान-इभाष्य का अनुवाद	७।१४
जिजीविषेन्	७।२	वुत्तानि	१।१३
जीवेम	१।१११	दयम्	६।११।६
जुगुप्सते	७।६	देव	१।१११
जुह्वानकार	४।१ (७)	देवपितृकार्य	६।१११।५-७
जुहुराण	७।१८	दधस्य	१।१
ज्येष्ठ	२।१४, ३।४	देवहितम्	१।१११
भय	३।४	देवा	७।४
तद्	१।१, २।१,	द्वापर	२।८
	३।५, ७।४, ११	धावत	७।४
तत	२।१८	धिय	१।१

धीमहि	१०१	पात्रेण	७१५
धीर	७१०	पाप	२१२
नि	११११	पाप्मान	२१४
नम उक्त्विम्	७१८	पारयितास्मि	३१२, ४
नय	७१८	पारयिष्मामि	३१२
नाष्टा	३१३	पिब्यमाना	४१ (७)
निगृह्णान	२१५	पुरस्तात्	११११
निदानेन	४१४ (११)	पुष्पिण्या	२१४
निपद्यमानस्य	२१६	पूषन्	७१५
मिहवाह	३१६	पेदिरे	५१५
निदग्	५१३	पौरुषिष्ठि	६१२
निर्वोढा	३१२	प्रचोदयान्	१११
किट्क्रीणे	२१३	प्रजज्ञे	४१४ (१०)
मुपद्	२१२	प्रजन	६१२
नो	६१११५-७	प्रजा	६११
नोट	६१११ (३)	प्रजातन्तुम्	६११११-४
पदे	४११ (७)	प्रजाति	६११
पद्यन्ताम्	५१५	प्रजातिम्	४१४ (१०)
पद्यन्ते	५१५	प्रति सुभोच	३१५
परा सुव	११११	प्रपये	२१४
परि दिदेग	३१५	प्रयाजानुयाजान्	४१३ (६)
परिभू	७१८	प्रवचन	६११
परिसिगिदे	३१६	प्रवृत्तित्व	६१११८
परीत	२१११	प्राजापत्य	७११६
पर्येत्य	२१२	प्रापन्	५१६
पयु	५१३	प्राप्तोन्	५१६
पश्येम	१११११	प्रेत्य	७१४
पाकयज्ञेन	४११ (७)	फलग्रहि	२१४

यह्वी	३।३		३, ४।३(६),
बाह्यन	७।५		५।२
बिभरासि	३।३	मा गृध	७।१
बिमृहि	३।२	मा छैत्सीन्	३।६
ब्रवाम	१।१११	मातरिश्वा	७।५
भग	२।६	मानृदेव	६।११।५-७
भगवति	४।३ (६)	मानुषम्	६।१
भर्ग	१।१	मा प्रमद	६।११।१-४
भवितास्मि	३।३	मिनावरुणौ	४।१ (७)
भाव	६।१, ११(२, ४, ७, ६), ७।३, ६, १७, १८	मुत्तम्	७।१५
भिषा	६।११।९	मुत्सुम्	७।११
भुञ्जीषा	७।१	मेध्य	५।३
भूतानि	७।७	मौदुगल्य	६।१
भूति	६।११।१-४	य	१।१
भूत्यै	६।११।१-४	यजस्व	५।२
भूय	७।६	यजा इति	५।१
भूयश्च	१।१११	यजै	२।१६,
भूयान्	२।२०		५।१,
भूयिष्ठाम्	७।१८	यज्ञक्रतुम्	२।२१
भूषाणु	२।४	यनियीम्	३।५
भृति	३।२	यम	७।१६
भृत्वा	३।५	यायातव्यत	७।८
मधु	२।१०	यावत्	३।३
मनीषी	७।८	युक्ता	६।११।१०-११
मया	४।३ (६)	युयोधि	७।१८
मस्तु	४।३ (६)	रता	७।६
मा	२।३, ३।२,	रत्नौन्	७।१६
		राजसूय	२।२१

राजानम्	२।१६	शश्वत्	३।४
राशीतर	६।१	शाकरभाष्य	७।१६
राये	७।१८	—का भाव	७।१४
लिप्यते	७।२	शान्ति	७।१०
बहुनानि	७।१८	शाश्वतीभ्य	७।८
बहण	२।१	शुक्लम्	१।१।१, ७।८
बरेभ्यम्	१।१	शुद्धम्	७।८
वास्य	७।१	शुन पुच्छ मादि	२।१२
विजानत	७।७	शुभाव	२।१
विचवक्षिरे	७।१०	शुधुम्	२।२, ७।१०
विजुगुप्सते	७।६	मृणुवाम	१।१।१
विद	७।८	क्षेते	२।६
विद्यया	७।११	क्षेरे	२।४
विद्वान्	७।१८	श्रद्धा	६।१।६
विधेम	७।१८	श्राम्यन्	४।१ (७)
वृत्त	६।१।१०-११	श्रेमाणम्	२।१०
वेद	७।११	सवत्सरम्	५।६
वेदोपनिषत्	६।१।१२	सविदा	६।१।६
वे	२।३, ३।१, ५।४	सजगमाने	४।१ (७)
व्यवच्छेदसी	६।१।१-४	सजिहान	२।८
व्याहृति	१।१	सत्यधर्मयि	७।१५
व्यूह	७।१६	सत्यवचा	६।२
शतम्	१।१।१, २।१३,	सत्यस्य	७।१५
	७।२	सनम्	३।६
शतान्	१।१।१	समधिष्यते	४।३ (६)
शम	६।१	समवायान्	३।६
शयान	२।८	सना	७।२
शरद- शतम्	१।१।१	समाभ्य	७।८

समाम्	३।४	सोमवसि	२।११
समूह	७।१६	स्मर	७।१७
संपद्यते	२।२८	स्याम	१।१११
संपादयाचक्रतु	२।१६	स्वयम्	७।२
सम्भव	७।१३	स्वाध्याय	६।१
सम्भूति	७।१२	स्वामी दयानन्द का मनुवाद	६।१
समश्चित	६।११।१०-११	स्वित	७।१
संवाणि	७।७	ह	२।१, ३।१
संवित्	१।११	हता	२।४
संवितु	१।१	हत्	२।१५
सानाहुक	५।६	हि	३।४
सुपथ	७।१५	हिरण्यमेन	७।१५
सूर्य	७।१६		

ॐ सह नावतु । सह नौ मुनयतु । सह वीर्यं करवावहे ।

तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहे ॥ ॐ

ॐ द्यौ शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति पृथिवी
शान्तिराप शान्तिरोपधय शान्ति ।
वनस्पतय शान्तिर्विश्वे देवा शान्ति-
ब्रह्म शाति सर्वं शाति शातिरेव
शाति सा मा शातिरेधि ॥ ॐ

ॐ शाति शाति शाति ॥ ॐ

इस पट्टी को पिन से या हल्का सा गोद लगाकर बन्द करे

बुध्दपोस्ट

पाठक की सम्मति और सुभाव

यहाँ १० पैसे का
टिकट लगाए

श्री सुबोध कुमार गुप्त, बी० ए०,
अध्यक्ष, पूर्वस्नातकीय अध्ययन विभाग,
भारती मन्दिर अनुसंधानशाला,
आर-२, विश्वविद्यालयपुरी,

जयपुर-४